प्रकाशक
पन्नालाल बांठिया
मंत्री
रा० प्रा० अणुव्रत समिति
जौहरी बाजार, जयपुर

❁

आर्थिक सौजन्य
सेठ रामलाल जी गोलेछा
पूर्व संस्करण की आय से

❁

प्रथम संस्करण, जून, १९६८
द्वितीय संस्करण, सितम्बर, १९६८
तृतीय संस्करण, अगस्त, १९६९
चतुर्थ संस्करण, जुलाई, १९७०

❁

मूल्य
एक रुपया पचास पैसे

❁

मुद्रक
अजन्ता प्रिण्टर्स
जयपुर-३

प्राक्कथन

विज्ञान अब केवल प्रयोगशाला और वेधशाला के यंत्रों में ही जकड़ा नहीं रह गया है। जीवन और समाज के सभी उपयोगी विषय क्रमशः उसमें समाहित होते जा रहे हैं। 'नैतिक विज्ञान' भी अब उसकी एक सुनिश्चित धारा बन गया है। विज्ञान के अन्यान्य विषयों की तरह पश्चिम में इस विषय पर भी प्रचुर लिखा गया है और लिखा जा रहा है। वहां नैतिक विज्ञान भी शिक्षा का एक प्रमुख अंग एवं स्वतन्त्र अंग बन गया है। भारतीय जन-जीवन में भी वह यथोचित रूप से प्रवेश पाये; इसलिए इसका भारतीयकरण अत्यन्त अपेक्षित है। भारतवर्ष नैतिक व धार्मिक उपदेश का अगाध स्रोत सदा से रहा है। वर्तमान में देश, काल व परिस्थितियों के साथ उसका वैज्ञानिकीकरण अत्यन्त अपेक्षित है, जिससे वह अधिक व्यापक व उपयोगी बन सके। पश्चिम की किसी उपयोगी धारा को भी ज्यों-का-त्यों ले लेना भारतीय जन-जीवन में अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं होता; प्रत्युत कुछ प्रतिकूल भी सिद्ध होता है। किसी भी देश, जाति व संस्कृति के लिए अपने ही पूर्वजों के उदाहरण, उपदेश व जीवन-प्रसंग जितने प्रेरक व गम्य होते हैं; उतने अन्य नहीं। साथ-साथ वे ही उस संस्कृति व परम्परा को सुरक्षित रखते हैं। प्रस्तुत पुस्तक 'नैतिक विज्ञान' इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रख कर लिखी गई है। इसमें नैतिक विज्ञान का भारतीयकरण कर देने का प्रयत्न किया गया है।

नैतिक मूल्य देश, काल के साथ बदलते रहते हैं। आज जो सद् माना जाता है; कल वह असद् भी माना जा सकता है। वर्तमान युग शताब्दियों और सहस्राब्दियों के इतिहास में परिवर्तनों का सबसे बड़ा घटक रहा है। आस्थायें

व मान्यतायें प्रचुर मात्रा में बदली है। पश्चिम और पूर्व, विज्ञान और धर्म मान्यताओं एवं जीवन की परिभाषाओं की दृष्टि से प्रतिपक्ष रहे हैं। इस द्वन्द्वात्मक स्थिति में अणुव्रत-आन्दोलन मध्यम प्रतिपदा बनता है। वह अतीत व वर्तमान में, दर्शन व विज्ञान में समन्वय-सूत्र बन कर समाज को एक नई दिशा देता है। न उसमें संस्कृति के नाम पर अन्ध विश्वासों का पोषण है और न प्रगति के नाम पर अन्धानुकरण का व्यामोह। 'नैतिक विज्ञान' में नैतिक मूल्यों का, सामाजिक मान्यताओं का, इन्हीं आधारों पर विवेचन हुआ है। युगानुकूल समाज-दर्शन की निष्पति प्रस्तुत करने का एक ध्येय माना जा सकता है।

विगत तीस जनवरी को राजस्थान विधान सभा ने अणुव्रत-आन्दोलन के सम्बन्ध में एक प्रशंसा-प्रस्ताव पारित कर उसे मान्यता दी है। अणुव्रत-साहित्य नैतिक प्रशिक्षण के अंतर्गत मान्यता पाये, यह इस दिशा का अग्रिम चरण-विन्यास होगा। राजस्थान के शिक्षामंत्री श्री शिवचरण माथुर इस दिशा मे प्रयत्नशील हैं, यह प्रसन्नता का विषय है।

३ अप्रैल; ६८
सुराना हाऊस,
जयपुर

—मुनि नगराज

भू मि का

मनुष्य जब से सामाजिक बना है, सभ्यता की ओर बढ़ता गया है। रहन-सहन का प्रकार, वेश-भूषा, बोल-चाल, शिष्टाचार आदि में परिवर्तन हुआ है। जीवन-विकास के नाना आयाम खुले हैं। उन सबका मुख्य आधार ज्ञान तन्तुओं का विकास है, जो कि शिक्षा की भूमिका पर अवस्थित है। मानव-जाति का क्रमिक इतिहास इसी ओर विशेष संकेत करता है।

शिक्षा किस प्रकार दी जाये, प्रत्येक युग से यह एक प्रश्नचिन्ह समाज के समक्ष रहा है। प्राचीन युग में गुरु-प्रधान-विधि से शिक्षा दी जाती थी, जिसे गुरुकुल परम्परा कहा जाता है। उस विधि में शिक्षक को केन्द्र माना गया था। अनेक छात्र ऐक ही गुरु के पास वर्षों रह कर नाना विषयों का अध्ययन किया करते थे। वर्तमान में वह विधि बदल गई है। उसे बदलना आवश्यक भी हो गया, क्योंकि व्यक्तिनिष्ठ पद्धति सीमित छात्रों के लिए सीमित विषयों को ही उपयोगी बना सकती है। इस युग में प्रत्येक शहर में सहस्रों और लाखों की संख्या में छात्र हैं। पढ़ाई के विषय भी अनेक हैं। एक व्यक्ति सब विषयों का पारगामी हो जाये और वह सहस्रों छात्रों को पढ़ा सके, यह सम्भव नहीं लगता। प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति तथा समय सदैव सीमित हुआ करता है। इस युग में अनेक अध्यापकों की व्यवस्था आरम्भ हुइ। इससे कुछ सुगमता हुई। किन्तु कुछ मौलिक त्रुटियां भी रह गईं। एक अध्यापक के नेतृत्व से छात्रों के जीवन-निर्माण का पूरा दायित्व उस पर आ जाता था। अब ऐसी स्थिति नहीं रही है। केवल पढ़ाना आवश्यक हो गया है। जीवन-निर्माण का पहलू उससे ओझल हो गया है। शिक्षा जीवन के लिए

न होकर केवल बौद्धिक व्यायाम बन गई है। मस्तिष्क के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य हुआ है, किन्तु हृदय के साथ उसका लगाव नहीं रहा है। चिन्तन ने दूसरी करवट ली है। आज के विचारक शिक्षा को तीन एच (Head Heart and Hand) के साथ संयोजित करना चाहते हैं। तीनों का समवायी रूप व्यक्ति व समाज के लिए उपयोगी है और उनका पृथक्-करण किसी के लिए भी उपयोगी नहीं बन सकता।

कुछ वर्षों पूर्व बुनियादी शिक्षा का क्रम आरम्भ हुआ था। उससे छात्र की कलात्मक अभिव्यक्ति का अवसर मिला। मस्तिष्क का विकास हुआ और हाथ पैर भी कुछ-कुछ अग्रसर हुए, पर हृदय जहां का तहां ही रहा। मस्तिष्क और हाथ-पैर का सन्तुलन नहीं बैठ पाया। वर्तमान में शिक्षा के क्षेत्र में यही कमी खटकती है। देश में प्रति वर्ष लाखों स्नातक तैयार होते हैं, किन्तु देश का ढांचा नहीं सुधर पा रहा है। शिक्षा के क्षेत्र में परिवर्तन हो, यह आवाज़ चारों ओर से आ रही है। सभी व्यक्ति चिन्तित से दृष्टिगोचर हो रहे हैं। सुधार के लिए अनेक कदम उठाये जा रहे हैं, पर उनका फलितार्थ बहुत कम सामने आ रहा है।

एक चिन्तन है, जब तक शिक्षा के साथ धर्म को नहीं जोड़ा जायेगा, तब तक वांछित सुधार नहीं हो पायेगा। इस चिन्तन के साथ काफी व्यक्ति सहमत हैं, किन्तु धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र में किस धर्म की शिक्षा दी जाये? भारत में अनेक धर्म और सम्प्रदाय हैं। भारत के संविधान ने सभी धर्मों का समादर किया है। किसी एक धर्म को राज सिंहासन पर बिठला कर अन्य धर्मों का निरादर नहीं किया है। ऐसी स्थिति में शिक्षा के साथ किसी सम्प्रदाय-विशेष की शिक्षा जोड़ी नहीं जा सकती। समाधान पुनः समस्या के पास पहुँच गया। यह विचार सर्वथा असंदिग्ध है कि शिक्षा में अध्यात्म को संयोजित किये बिना देश की सर्वाङ्गीण प्रगति नहीं हो सकती।

"जिन खोजा, तिन पाइया", खोजी अवश्य ही पाता है। नाना विचारक इस दिशा में प्रयत्नशील हुए। सफलता हस्तगत होने लगी है। अणुव्रत परामर्शक

मुनिश्री नगराजजी की प्रस्तुत पुस्तक इस समस्या का सहज समाधान प्रस्तुत करती है। मुनिश्री ने इस पुस्तक में सभी मुख्य धर्मों की प्रसिद्ध कथाओं के आधार पर जीवन-व्यवहार के नाना पहलुओं का अध्यात्म के परिवेश में विश्लेषण किया है। भाषा सरल है, सुन्दर है और मुहावरे बन्द है। विवेचन विशेष स्पष्ट तथा हृदयग्राही है। ऐसी पुस्तकों के माध्यम से अध्यात्म का सहज विकास होता है और छात्रों को जीवन के लिए चिन्तन मिलता है।

मुनिश्री ने पुस्तक के दूसरे खण्ड में अणुव्रत-आन्दोलन की विभिन्न प्रवृत्तियों तथा विचार पक्ष को भी प्रस्तुत कर दिया है। अणुव्रत एक सार्वजनिक तथा असाम्प्रदायिक आन्दोलन है। आचार्यश्री तुलसी इस आन्दोलन के प्रवर्तक हैं तथा मुनिश्री नगराजजी इसके परामर्शक हैं। इस आन्दोलन ने लाखों व्यक्तियों को प्रभावित किया है तथा उनके जीवन को परिमार्जित किया है। आन्दोलन के विचार-पक्ष व विभिन्न प्रवृत्तियों के समावेश से प्रत्येक पाठक को बौद्धिक खुराक के साथ-साथ क्रियात्मक प्रशिक्षण तथा दिशा भी मिलेगी। मुझे मुनिश्री नगराजजी के दर्शनों का कई बार सौभाग्य प्राप्त हुआ है। मुझे उनकी विचारकता ने विशेष प्रभावित किया है। वे एक साधक मनीषी हैं। ज्ञान और साधना का उनके जीवन में समन्वय है। ऐसे सन्त-मनीषियों से ही ऐसी पुस्तकों की आशा की जा सकती है। मेरी भावना है, इस पुस्तक को छात्र विशेष रुचि से पढ़ें, ताकि उनके जीवन की दिशा स्पष्ट हो सके और वे स्वयं अपने लिए तथा समाज व देश के लिए उपयोगी बन सकें। मैं मुनिश्री के इस प्रयत्न का हृदय से अभिनन्दन करता हूँ तथा साथ ही निवेदन भी करता हूँ कि छात्रों के लिए उदात्त व प्रशस्त भावनाओं से संवलित ऐसी पुस्तकों का और भी निर्माण करें।

शिवचरण माथुर
शिक्षा मंत्री, राजस्थान

२६ जनवरी, ६८
३८४, सिविल लाइन्स,
जयपुर

दो शब्द

प्रलम्ब पराधीनता के पश्चात् भारतवर्ष को उन्मुक्त सांस लेने का अवसर मिला है। अपने भविष्य का निर्माण करने के लिए कोटि-कोटि लोगों के हाथ लगे हैं। वड़े उद्योग खड़े किए जा रहे हैं। वड़े बाँध बांधे जा रहे हैं। अरवों की धन-राशि व्यय की जा रही है। पर राष्ट्र की उच्चता के लिए इस सब निर्माण के साथ राष्ट्रीय चरित्र निर्माण का प्रश्न प्रथम है। चरित्र-वल के साथ ही अन्य निर्माण वरदान रूप हो सकते है। भावी राष्ट्रीय चरित्र का बीजारोपण वालकों में ही किया जा सकता है। आज के वालक ही कल के राष्ट्रीय कर्णधार होते हैं। 'नैतिक विज्ञान' पुस्तक का निर्माण नई पीढ़ी के नैतिक प्रशिक्षण की दिशा में एक शुभ चरण-विन्यास है।

अणुव्रत आन्दोलन राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण की दिशा में सजग एवं सक्रिय है। जीवन की विभिन्न दिशाओं में विभिन्न प्रक्रियाओं के द्वारा वह नये-नये ऊन्मेष लाना चाहता है। देश की शिक्षा-व्यवस्था में नैतिक प्रशिक्षण को अनिवार्यता मिले, यह उसका एक लक्ष्य है। विचार-विनिमय के द्वारा शासन-पक्ष को इस दिशा में प्रेरित किया गया है। राजस्थान प्रान्तीय अणुव्रत समिति ने एक नैतिक परीक्षा-क्रम संचालित करने का निश्चय किया है। संयोजक के रूप में उसका दायित्व मुझ पर आया। श्रद्धास्पद आचार्य श्री तुलसी से मैंने इस विषय में मार्ग-दर्शन लिया। उनकी अनुज्ञा के अनुसार मैंने परमादरणीय मुनिश्री नगराज जी को परीक्षा की रूपरेखा तैयार करने का एवं एतद् विषयक पुस्तक लिखने का अनुरोध किया। मुनिश्री से मुझे यथेष्ठ दिग्दर्शन मिला। विज्ञ, विशारद और विशेषज्ञ के क्रम से अणुवत परीक्षा की

रूप-रेखा भी उन्होंने तैयार की तथा विज्ञ क्रम के लिए प्रस्तुत पुस्तक का लेखन भी किया। राजस्थान प्रान्तीय अणुव्रत समिति उसके लिए आभारी है। आशा है, हम परमाराध्य आचार्य श्री तुलसी के आशीर्वाद एवं आदरणीय मुनि श्री नगराज जी के दिशा-दर्शन में अणुव्रत-परीक्षा-क्रमों को आगे बढ़ाने में सफल होंगे।

मुनिश्री ने भाव-भाषा की दृष्टि से पुस्तक को न तो अत्यन्त गूढ़ ही बनने दिया है और न अत्यन्त सरल ही। भाषा की प्रांजलता एवं भावों की सरसता से पुस्तक सर्वांगीण व बहुजन भोग्य बन गई है।

दो वर्ष की अवधि में प्रस्तुत पुस्तक के चतुर्थ संस्करण की आवश्यकता का अनुभव होना, पुस्तक की उपयोगिता का तथा अणुव्रत-परीक्षा की लोकप्रियता का स्वयंभू प्रमाण है।

गंगापुर (कालू स्मृति स्थल)
१५/७/७०

देवेन्द्रकुमार हिरण
संयोजक

अनुक्रम

अणुव्रत-अयन ८३ से १२८

नैतिक जागरण

घना सवेरा था। एक अधेड़ दार्शनिक बिना घड़ी देखे ही घर से निकल पड़ा। जाना था, उसे किसी सार्वजनिक उद्यान में, पर आत्मा और परमात्मा की उधेड़-बुन में पहुँच गया, वह व्यक्तिगत उद्यान में। बागवान ने ललकारा—"कौन हो तुम ?" दार्शनिक अपनी चिन्ता में डूबा चला ही जा रहा था। बागवान लपक कर निकट आया। बांह पकड़ कर दार्शनिक को झकझोरा और चिल्लाकर बोला—"कौन हो तुम ?" दार्शनिक का ध्यान टूटा। देखा, सामने खड़ा व्यक्ति पूछ रहा है—"कौन हो तुम ?" दार्शनिक ने सहज भाव से कहा—"यही जानने के लिए तो मैं भटक रहा हूं। काश ! मैं जान गया होता, मैं कौन हूँ।"

दार्शनिक ने अपने आप को नहीं जाना; यह आत्म-स्वरूप के प्ररिप्रेक्ष्य की बात है। स्वयं के सूक्ष्म रूप को समझने का प्रश्न है। आज का मनुष्य तो स्वयं को स्थूल रूप से भी नहीं समझ पाया है, मैं कौन हूँ ? काश ! वह इतना भी समझा होता, "मैं मनुष्य हूँ। दूसरे भी मेरे ही समान मनुष्य हैं। जो मैं चाहता हूं, वह दूसरे को भी प्रिय है।" अब भी वह यह समझ ले तो आज की छितरी समस्याएं स्वतः सिमिट जाती हैं। फिर राजकर्मचारी होकर वह कैसे रिश्वत ले सकेगा, अपने ही बन्धुओं से ? व्यापारी होकर वह कैसे ठग सकेगा, अपने ही परिजनों को ? श्रमिकों का वह कैसे शोषण कर सकेगा और वह कैसे उनके प्रति बेरहम हो सकेगा ?

पश्चिम के मनुष्य ने सूक्ष्म रूप से नहीं जाना है, मैं कौन हूँ, पर स्थूल रूप से उसने कुछ-कुछ जाना है, मैं मनुष्य हूं, और अन्य लोग भी मनुष्य हैं। यही तो कारण है कि पश्चिम के अंचल में रिश्वत, मिलावट, झूठा तोलमाप आदि बुराइयां बहुत न्यून हो रही हैं।

भारत का दर्शन और भी गहरा है। वहां स्थूल का ही ग्रहण नहीं, सूक्ष्म का भी ग्रहण है। सूक्ष्म से भी जाना गया है, मैं चेतन हूं, अविनाशी हूँ। मृत्यु के बाद भी मैं किसी जीव-जाति में जीता हूं। पुण्य-पाप मेरे सखा हैं। मैं जिस-जिस मात्रा में उनका अर्जन करता हूँ, उनके उदय-काल में तद्रूप ही सुखःदुःख पाता हूँ। अन्याय पाप है। अनीति पाप है। इनसे मेरे आत्म-गुणों का हनन होता है। दूसरों का बुरा करके वस्तुतः मैं अपना ही बुरा करता हूं। दूसरों को ठग करके वस्तुत: मैं अपने को ही ठगता हूं। दूसरे प्राणी भी मेरे समान चेतन हैं। उनका वध व उनके अधिकारों का हनन वस्तुतः अपना ही वध व हनन है। अस्तु, इस आत्म-दर्शन से इस प्रकार आत्मौपम्य वुद्धि का जागरण होता है, विश्व-बन्धुता का भाव प्रेरित होता है। भारतवर्ष में दूधमुंहे बच्चों की जबान पर भी यह दर्शन जम रहा है, पर आचरण में वह बड़े-बूढ़ों के भी नहीं दीख रहा है। अर्थ, सत्ता और प्रतिष्ठा की लपटों में आज आत्म-दर्शन झुलसा-सा नजर आ रहा है। आज के भारतीय का आचरण आस्तिकता का प्रतीक नहीं, अपितु नास्तिकता का प्रतीक बन रहा है। नास्तिकों ने यही तो कहा था :

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

"जितने दिन जीना है, आनन्द से जीओ। ऋण करके भी घी पीओ। इस भस्मीभूत देह का कहीं पुनर्जन्म नहीं है।" आज के

जन-जीवन में भी क्या इस उक्ति का अवतरण नहीं दीख रहा है ? लगता है, आस्तिकता आज केवल वाणी में रह गई है। आचार में मानो घोर नास्तिकता समा गई है। आपत्ति-ग्रस्त मनुष्य से रिश्वत एंठने वाले लोग यह नहीं सोचते, कहीं अगले जीवन में मुझे भी आपत्ति-ग्रस्त होना होगा और यह रिश्वत ज्यों-कीं त्यों चुकानी होगी। वे सोचते हैं, रिश्वत देने वाले ने पिछले जन्म में हमसे रिश्वत ली होगी, जो अब उसे चुकानी पड़ रही है। सचमुच ही वर्तमान क्षण धार्मिकता और नैतिकता के आमूल विनाश का सा प्रतीत हो रहा है।

चरित्र और नैतिकता की दृष्टि से भारतवर्ष के अतीत का इतिहास अत्यन्त गौरवमय रहा है। उस समय आध्यात्मिक आस्थाएं थीं। राजा समझता था, अन्याय का एक पैसा भी मेरे खजाने में आ गया तो मेरा खजाना खाली हो जायेगा। श्रमिक समझते थे, बिना श्रम किए हमने एक कौड़ी भी रख ली, तो हमारा वंश नहीं चलेगा। जन-जन के संस्कारों में था':

मातृवत् परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्ठवत् ।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पंडितः ॥

"जो दूसरों की स्त्रियों को माता की दृष्टि से देखता है, दूसरे के धन को ढेले के बराबर समझता है और प्राणिमात्र को अपने ही समान समझता है, वह पण्डित है।" उक्त आस्थाएं जन-जन के जीवन-व्यवहार में थीं। इसका ही परिणाम था कि मेगस्थनीज, फाहियान आदि विदेशी पर्यटकों ने भारतवासियों के चरित्र की गौरव-गाथा अपने देशों में जाकर गाई। स्वयं भारतवासियों ने भी गर्व से कहा—

"ए पृथ्वी के लोगो ! चरित्र की बात सीखनी है, तो हम भारतवासियों से सीखें।" अस्तु, अपेक्षा है, भारतवासी अपने अतीत

के गौरव को समझ कर तथा अनागत के परिणाम को सोच कर देश में एक सामूहिक नैतिक जागरण लाएं और 'मैं कौन हूं' के आत्म-दर्शन को चरितार्थ करें।

प्रज्ञा-परीक्षण

१. प्रत्येक मनुष्य अपने आपको जानता है। दार्शनिक ने कैसे नहीं जाना कि मैं कौन हूं? उसके नहीं जानने का हार्द क्या है?

२. 'मैं कौन हूं' इसका हार्द समझ लेने के पश्चात् मनुष्य की असद् प्रवृत्ति में क्यों अन्तर आयेगा?

३. आत्मौपम्य बुद्धि का जागरण कैसे होता है और उसका आधार क्या है?

४. जीवन के विषय में नास्तिकों की क्या मान्यता है।

५. प्राचीन काल में भारतवासियों की चरित्र-सम्बन्धी निष्ठा क्या थी?

: २ :

सुख की उभरती रेखाएं

शाक्य राजा भद्दिय बुद्ध के पास दीक्षित हुआ। प्रव्रजित होकर वह भिक्षु-मण्डली में रहने लगा। सोना, उठना, बैठना आदि हर क्रिया के आरम्भ में वह बोला करता—"अहो ! सुखम्, अहो ! सुखम्।" मण्डली के भिक्षुओं ने सोचा—यह राजर्षि आसक्त है। अतीत के भोगों को याद करता है। भिक्षु बुद्ध के पास गए और उन्होंने अपना मनोभाव उनसे कहा। बुद्ध ने राजर्षि भद्दिय को बुलाया और पूछा—"भिक्षु ! तुम सोते, उठते 'अहो ? सुखम् अहो सुखम्,' क्यों बोलते हो ?"

"भन्ते ! भिक्षु-पर्याय में मुझे अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है; अतः सहज भाव से मन का आनन्द उभर कर, 'अहो ! सुखम्, अहो ? सुखम्' में अभिव्यक्त होता रहता है ?"

"भिक्षु ! तुम राजा थे। वहां तुम्हें कौनसा सुख नहीं था, जो तुम भिक्षु–जीवन के सुख को अपूर्व सुख कह रहे हो ?"

"भन्ते ! राजा होते तो मैं परम दुःखी था। जब मैं भोजन के लिए बैठता मुझे सन्देह होता, इसमें किसी ने जहर तो नहीं मिला दिया है। रात को महलों में मैं शयन करता। आरक्षक नंगी तलवार लिए पहरा लगाते थे। फिर भी मैं रात को सुख से सो नहीं पाता था। मुझे स्वप्न भी आते, शत्रु राजा आक्रमण कर रहे हैं। भन्ते ! जिस जीवन में सुख से भोजन नहीं कर पा रहा था, नींद नहीं ले पा

रहा था, वह जीवन सुखी कैसा ? अब मैं भिक्षा-जीवी होकर निस्सन्देह भोजन करता हूँ। अनजाने व्यक्ति से मिले अनजाने भोजन को करने में भी मुझे भय नहीं होता कि इसमें जहर मिला होगा। किसी भी वृक्ष के नीचे रहकर मैं रात को नींद लेता हूं। मुझे भय नहीं होता, कोई शत्रु मुझे कष्ट देने आ रहा है। अस्तु, इन सारी वातों को मैं सोचता रहता हूँ और मेरे मुख से सहज भाव से निकलता रहता है—अहो ! सुखम्, अहो ! सुखम् ।"

बुद्ध ने अन्य उपस्थित भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए कहा—"यह राजर्षि अनासक्ति और अभय के सुख से परिपूरित हैं। अपने जीवन से इसने सिद्ध किया है—संग्रह दुःख का कारण है और त्याग आत्मिक आनन्द का। आत्मिक आनन्द ही वास्तविक सुख है।"

सुख क्या है और कहां है, यह इस घटना-प्रसंग से पूर्णतः प्रतिध्वनित हो जाता है। संग्रह के साथ भय बढ़ता है और भोग के साथ व्याधियाँ बढ़ती हैं। इस स्थिति में संग्रहपरक और भोगपरक सुख वास्तव में दुःख ही हो जाता है। ऋषि-महर्षियों ने इसीलिए आत्म-सुख की गवेषणा का पाठ हमें दिया है। आज के उद्योगपतियों व धनिकों को हम देखें। अधिकार पर वैठे राजनयिकों को हम देखें। क्या उनका जीवन भद्दिय राजा जैसा ही नहीं है ? क्या वे सुख की नींद सोते हैं ? क्या वे निश्चिन्तता से भोजन कर पाते हैं ?

प्रश्न होता है, संग्रह और भोग ही सुख नहीं है, तो क्या भिक्षु होकर ही सुख पाया जा सकता है ? भिक्षु-जीवन से मिलने वाला सुख विरल लोगों के लिए हो हो सकता है। मनुष्य को आज ऐसे सुख की आवश्यकता है, जो कुछ एक के लिए ही नहीं, अपितु सर्वसाधारण के लिये सुलभ हो। सुख वस्तुतः न पदार्थ में है और न किसी प्रकार के जीवन में। वह तो मनुष्य की अपनी वृत्तियो में है। वृत्तियों के परिवर्तन से मनुष्य जहां कहीं भी उसे पा सकता है। 'आवश्यकताए

बढ़ाओ, आविष्कार बढ़ेंगे और सुख मिलेगा' यह पश्चिम का उद्-घोष है। पूर्व का चिन्तन है—'आवश्यकताओं का स्वल्पीकरण ही सुख का मार्ग है।' भोग और संग्रह के असीम गगन में मनुष्य उड़ता ही जाये, तो कभी किनारा नहीं मिलेगा। उस असीम को ससीम बनाने के लिए सन्तोष का पूर्णविराम लगाना अपेक्षित होता है। अपनी लालसाओं पर मनुष्य जहां भी पूर्णविराम लगायेगा, वहीं से सुख का निर्भर फूट पड़ेगा। एक मनुष्य के पास लाख रुपये हैं। उसने व्रत ले लिया, मैं इससे अधिक संग्रह नहीं करूंगा। लाख का पूर्णविराम सचमुच ही उसे पूर्ण विराम देता है। उसके मन में कृत-कृत्यता होगी, परिपूर्णता होगी। कोटिपतियों के बीच में बैठ कर भी उसके मन में हीनता की अनुभूति नहीं होगी। वह सुख की नींद सोयेगा और निश्चिन्तता से भोजन करेगा।

एक दूसरा व्यक्ति, जिसके पास लाख रुपये तो हैं, पर वह उन्हें करोड़ करना चाहता है उसके मन में क्षण भर के लिए भी चैन कैसे रह सकता है? प्रतिदिन नया दुःख वह मोल लेता है। अनगिन बाधाएं उसे स्वयं को घेरे रहती हैं। मान लें, उसके पास पच्चास लाख रुपये हो गये। अब आप सोचें, दोनों में सुखी कौन है? एक लालसा नदी के अगले तट पर है, एक लालसा नदी के मध्य में है। यह निर्विवाद सत्य है, सुखी वही है, जिसने तट पा लिया है। कोटिपति होकर दूसरा भी सुखी होगा। वह सुखी इसलिये नहीं होगा कि उसके पास करोड़ रुपये हो गये हैं। वह सुखी इसलिये होगा कि उसने वहां पूर्णविराम लगा रखा है। पूर्णविराम वहां न होता, तो करोड़ रुपये भी सुख न दे पाते। तात्पर्य हुआ, सुख सन्तोष में है, जहां से भी वह शुरू हो।

प्रश्न होता है कि आर्थिक सीमा का पाठ क्या अकर्मण्यता का पाठ नहीं है? क्या वह मनुष्य के साहस व पौरुष को इयत्ता में नहीं

बांध देता ? क्या आर्थिक परिपूर्णता के बाद मनुष्य अकर्मण्य होकर बैठा ही रहे ? अर्थार्जन मात्र ही मनुष्य की क्रिया होती, तो वह प्रश्न अवश्य संगत होता। क्रियाओं की तरतमताओं में अर्थ–संग्रह एक साधारणतम क्रिया है। अर्थ-संग्रह ही समग्र जीवन का ध्येय बना रहे, इससे बढ़कर जीवन की और कोई निरुपयोगिता नहीं हो सकती। अर्थाजन से विराम लेकर अन्य मानवीय गुणों के विकास में जीवन का अधिक से अधिक उपयोग हो, यह जोवन का लक्ष्य होना चाहिये। वस्तुत: वही जोवन दिव्य होता है, जिसमें मानवीय गुणों का अधिकाधिक विकास होता रहे और सुख की रेखाएं उभरती रहें।

प्रज्ञा–परीक्षण

१. शाक्य राजा भद्दिय अपने राजा के जीवन में दुःखी कैसे था और भिक्षु के जीवन में सुखी कैसे था ?

२. विसर्जन सुख का मार्ग है या वस्तु-संग्रह ?

३. सुख कहां है ? भौतिक साधनों में या मनुष्य की अपनी वृत्ति में ?

४. लालसाओं पर पूर्ण विराम कैसे लगाया जा सकता है और कैसे सुख का प्रादुर्भाव किया जा सकता है ?

५. मनुष्य-जीवन का ध्येय क्या अर्थार्जन ही है ? यदि ऐसा नहीं है तो मनुष्य को अपनी शक्ति और समय का उपयोग किस दिशा में करना चाहिए ?

पाप की ओर पदन्यास क्यों ?

(महाकवि कम्बन कृत तामिल रामायण का एक आख्यान)

एक घना जंगल था। एक बड़े वृक्ष पर एक बन्दर बैठा करता था। उसी वृक्ष पर मोर, कबूतर, मैना, कौआ आदि पक्षी बैठा करते थे। एक रात को जब जंगल में सन्नाटा छाया हुआ था, उन सबके बीच बातें चल पड़ीं। बन्दर ने कहा—"समस्त जीव-योनि में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी है।" मोर ने कहा—""इसमें कोई दो मत हो भी कैसे सकता है?" कबूतर ने कहा—"मनुष्य-योनि से प्राणी मोक्ष को प्राप्त करता है। मोक्ष की ओर जाने का चौरासी लाख जीव-योनि में यही एक दरवाजा है।" तोते ने कहा—"हम सब तो तुच्छ प्राणी हैं। पेट भरने और इधर-उधर फुदकते रहने के सिवाय हमारे काम ही क्या है?" मैना ने कहा—"मनुष्य में बुद्धि होती है। वह अपने बुद्धि-कौशल से क्या-क्या नहीं कर लेता? उसकी सर्वश्रेष्ठता में मैं तो शत-प्रतिशत सहमत हूँ।"

सबके बोल चुकने के पश्चात् कौए का नम्बर आया। वह गम्भीर होकर चुप रहा। सब ने कहा—"चुप क्यों हो मित्र! अपनी राय कहने का सबको अधिकार है।" कौए ने कहा—"क्या कहूँ? मनुष्य के विषय में मेरी राय आप सबसे विपरीत है। आप मानते हैं, मनुष्य संसार में सबसे उत्तम प्राणी है और मैं मानता हूँ, मनुष्य संसार में सबसे अधम प्राणी है।"

कौए की इस बात पर बन्दर प्रभृति सभी बोखलाये। बोले—"मनुष्य के बारे में तुम यह धारणा रखते हो? तुम ही संसार में

सबसे अधम हो, इसलिए मनुष्य को अधम समझ रहे हो। तुम सभ्य जनों के बीच बैठने के उपयुक्त नहीं हो; अतः जब हम गोष्ठी करें, तुम हमारे से दूर किसी डाली पर बैठा करो।"

इस घटना-प्रसंग के कुछ ही दिनों बाद एक अनूठा प्रसंग सामने आया। सायंकाल का समय था। बन्दर अपनी डाल पर बैठा था। उसने देखा—एक मनुष्य दौड़ा-दौड़ा आ रहा है। उसके पीछे एक व्याघ्र लगा है। बन्दर को दया आई। उसने मनुष्य से कहा—"वृक्ष के ऊपर चले आओ। यहां तुम निरापद रहोगे।" मनुष्य को यह राय अच्छी लगी। व्याघ्र से स्वयं को बचाने का उसके पास और रास्ता भी क्या था? मनुष्य शाखा-प्रशाखा को पकड़ता–पकड़ता बन्दर के समीप आ बैठा। व्याघ्र ने देखा—"मेरा शिकार चला गया।" वृक्ष पर चढ़ पाना उसके लिए सम्भव भी कैसे होता? उसने मायाचार फैलाना शुरू किया। बन्दर को सम्बोधन करके कहने लगा-"भाई बन्दर! हम दोनों तो जंगल के प्राणी हैं। परस्पर बन्धु हैं। यह मनुष्य नगर का प्राणी है। हमारे से इसका क्या लेना–देना है? हमें तो यह कष्ट ही पहुँचाता रहता है। कृपया, तू इसे मेरे खाने के लिये नीचे ढकेल दे।"

बन्दर—"तुम यह कैसी बात कह रहे हो। जो मनुष्य शर–णार्थी होकर मेरे पास आया है, तुम्हारे खाने के लिए मैं उसे नीचे ढकेल दूं?"

व्याघ्र—"इसमें तेरा क्या जाता है? मेरा पेट भर जायेगा। मैं तेरा आभार मानूंगा। मनुष्य तो हमारे साथ निर्दयता का व्यव-हार करता है। समय पाकर यह क्या तेरे साथ धोखाधड़ी नहीं कर लेगा?"

बन्दर—"धोखाधड़ी पशु भी नहीं करता। मनुष्य क्यों करेगा?

वह तो जगत् का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। वह तो धर्म-शास्त्र सुनता हैं। पुण्य-पाप को समझता है। मैं इसे नीचे गिराने का पाप करूं ही क्यों?"

व्याघ्र—"धर्म-शास्त्र तो सुनने के लिए ही हुआ करते हैं। इन पर चलता कौन है? तेरे जैसा कोई आग्रही चलता भी है, तो अन्ततोगत्वा वह दुःख ही पाता है।"

बन्दर—"कुछ भी हो, मैं ऐसा पाप नहीं करता।"

व्याघ्र निराश होकर बैठ गया। बन्दर को नींद आई और खर्राटे भरने लगा। मनुष्य बन्दर के पास सुनसान-सा बैठा था। उसे निकल भागने का कोई मार्ग नहीं दीख रहा था। व्याघ्र ने सोचा, मेरा पहला तीर खाली गया है। अब दूसरा तीर चलाना चाहिए। मनुष्य को सम्बोधित कर वह कहने लगा—"भाई मनुष्य! मेरे तो तेरे में और बन्दर में कोई अन्तर नहीं है। पेट भरना है। तू बन्दर को नीचे ढकेल दे। मैं इसे उठा कर एक ओर ले जाऊंगा। तू निर्विघ्न अपने घर चले जाना।"

मनुष्य—'छी! छी! जिस बन्दर ने मुझे बचाया, उसे मैं तेरे खाने के लिए नीचे ढकेल दूं? कैसे हो सकता है, यह कृतघ्नता का पाप?"

व्याघ्र सोचने लगा; पाप और धर्म का यह नशा जब तक नहीं उतरेगा, तब तक यह बन्दर को नीचे नहीं ढकेलेगा। यह नशा उतरेगा, इसका स्वार्थ टकराने से; अतः इसके स्वार्थ को उद्दीप्त करने में मेरा भला है। फिर वह मनुष्य से कहने लगा—"मनुष्य! यह सच है कि बन्दर को नीचे ढकेल देने में मेरा स्वार्थ फलित होता है, पर इसमें तेरा भी तो स्वार्थ फलित होता है। बन्दर तो जंगल का प्राणी है। यह मर भी जाएगा तो इसके पीछे क्या नुकसान होता

है ? तू अपनी सोच, तेरे मरने के बाद तेरे बच्चों का क्या हाल होगा ? तेरी पत्नी का क्या हाल होगा ? तेरी दुकान का क्या हाल होगा ? मैं इस वृक्ष को छोड़ कर जाने वाला नहीं हूं तू कितने दिन तक वृक्ष पर बैठा रहेगा।"

स्वार्थ-भरी बातें सुनकर, मनुष्य का मन पलट गया। उसे भी लगा, व्याघ्र भले ही सब कुछ अपने स्वार्थ के लिए कहता हो, पर मेरा हित भी तो इन्हीं बातों में है। मनुष्य ने व्याघ्र को सावधान किया और कहा—"तेरी बात मेरी समझ में आ गई। मैं बन्दर को नीचे ढकेल रहा हूँ।" यह कह कर अपने पास सोये बन्दर को मनुष्य ने डाल से नीचे ढकेल दिया। व्याघ्र उसे खाने के लिए मुंह बाकर खड़ा हो गया। बन्दर ज्यों ही नीचे खिसका, उसकी नींद टूट गई। उसने गिरते-गिरते वृक्ष की अन्य शाखा पकड़ ली और वृक्ष के ऊपर ही रह गया।

व्याघ्र निराश हुआ। उसने देखा, मेरा यह तीर भी खाली गया है। अब मनुष्य चाहे भी, तो बन्दर को नीचे नहीं ढकेल सकता। बन्दर चाहे तो मनुष्य को ढकेल सकता है। उसने बन्दर से कहा—"देख बन्दर! तू धर्म-पाप की बात करता था, पर मनुष्य ने तेरे साथ क्या किया ? अब भी अवसर है, तू मनुष्य को नीचे ढकेल कर अपना प्रतिशोध ले।"

बन्दर ने सौम्य भाव से कहा—'मैं जान चुका हूं, मनुष्य ने मेरे साथ क्या किया? पर इतना अधम कार्य एक मनुष्य ही कर सकता है, पशु नहीं। मैं मनुष्य को नीचे नहीं ढकेलूंगा। हां, इतना अवश्य करूंगा, मैं अपनी गोष्ठी बुलाऊंगा और कौए को धन्यवाद दूंगा।"

जान-बूझकर ही मनुष्य पाप की ओर पदन्यास क्यों कर लेता है; इस प्रश्न का उत्तर इस कथानक के इन पाँच अक्षरों में मिल जाता है—"स्वार्थ के लिए"!

प्रज्ञा--परीक्षण

१. बन्दर, मोर, कबूतर आदि ने मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ प्राणी किस दृष्टिकोण से माना ?

२. बन्दर ने मनुष्य के साथ क्या व्यवहार किया और मनुष्य ने बन्दर के साथ क्या व्यवहार किया ?

३. कौए की बात सच कैसे निकली ?

४. इस कथानक का हार्द अपने शब्दों में व्यक्त करें :

५. जानते हुए भी मनुष्य पाप क्यों कर लेता है ?

❁

: ४ :

अहिंसा के अक्षांश पर

बुद्ध के पास दो व्यक्ति आये। एक ने दूसरे की ओर संकेत करते हुए कहा—"भगवन्! यह श्वान की तरह दिन भर घूमता ही रहता है, अतः मर कर श्वान ही होगा न?" दूसरे व्यक्ति ने प्रथम की ओर संकेत करते हुए कहा—"भगवन्! यह मार्जार की तरह दिन भर आँखें निकालता है, मर कर मार्जार ही होगा न?" बुद्ध बोले—"इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य जैसे-जैसे संस्कार यहां अर्जित करता है, जन्मान्तर में वह वैसे-वैसे फल पाता है। तुम दूसरे को श्वान समझते हो; अतः बहुत सम्भव है, तुम अगले जन्म में श्वान ही हो जाओगे। यह दूसरों को मार्जार समझ कर चलता है; अतः संभव है, यह अगले जन्म में मार्जार हो जायेगा।" दोनों व्यक्ति अवाक् हो गये; मानो उनके पैरों के नीचे की धरती ही खिसक गई हो।

उक्त घटना-प्रसग व्यक्ति को पर-द्रष्टा बनने से पराङ्मुख करता है और आत्म-द्रष्टा बनने के लिये प्रेरित करता है। व्यक्ति दूसरों की अपेक्षा अपने दोषों को देखता रहे, तो उसके दोषों का परिमार्जन हो जाता है और वह सहज ही एक साधक की कोटि का पुरुष बन जाता है। दूसरों के दोषों को देखने की प्रवृत्ति बहुधा हीनता और तुच्छता पर आधारित होती है। इससे दूसरों का परिमार्जन तो सम्भव होता ही नहीं, अपितु स्वयं वह हीन व तुच्छ अवश्य बन जाती है। मनुष्य जब दूसरों की ओर अंगुली उठाता है, तब यह नहीं देखता कि मेरी शेष अंगुलियां मुझे अपने ही दोष देखने के लिए संकेत करने लगी हैं।

पारिवारिक व सामाजिक स्तर पर जितने विग्रह खड़े होते हैं, उनमें अधिकांश इसी मूल पर आधारित होते हैं। परिणाम यह होता है, पारिवारिक व सामाजिक जीवन दुःख और दुर्भाग्य से भर जाता है। एक-दूसरे को परस्पर बुरा मानने लगते हैं। अविश्वास की दीवारें खड़ी हो जाती हैं। परोक्ष व प्रत्यक्ष एक दूसरे की निन्दा होने लगती है। दूसरों की त्रुटियों व अपनी विशेषताओं को देखने की अपेक्षा अपनी त्रुटियों व दूसरों की विशेषताओं को मनुष्य देखने लगे तो पारिवारिक व सामाजिक जीवन एक सरस उपवन बन जाता है।

अहिंसा का पहला पाठ भी यहीं से प्रारम्भ होता है। दूसरों के दोष देखना व दूसरों को बुरा समझना स्वयं में एक हिंसा है। हिंसा के स्थूल रूप ताड़न, तर्जन व प्राण-वियोजन हैं। ये सब कायिक हैं। थोड़े ही लोग इन अभद्र आचरणों से सम्बद्ध होते हैं। दूसरों के दोष देखना व दूसरों की निन्दा करना हिंसा के सूक्ष्म रूप हैं। अधिकांश लोग इनमें प्रवृत्त होते हैं। मानसिक दोषों की ओर अधिक ध्यान देने की अपेक्षा है। मन सब से ऊंचाई पर होता है। वाणी और कर्म ढलाव में होते हैं। मन के तालाब से बहा हुआ पानी, वाणी व कर्म के तालाबों को भरता है। तात्पर्य, सभी दोष पहले मन में पैदा होते हैं, फिर वे क्रमशः वाणी व कर्म का विषय बनते हैं। मनुष्य पहले दूसरे के विषय में बुरा सोचता है, फिर उसकी निन्दा करता है। उसके बाद वह उससे ताड़न, तर्जन रूप झगड़ा करता है। इस स्थिति में यह परम आवश्यक हो ही जाता है कि मन में दूसरों के प्रति बुरी भावना पैदा हो ही न, ताकि उसका अगला परिणाम भी चरितार्थ न हो पाये।

अहिंसा मानसिक पवित्रता का आधार होने के साथ-साथ समस्याओं का व्यावहारिक समाधान भी है। क्रोध व आवेश से

जो काम नहीं बनता, वह प्रेम व सौहार्द से तत्काल बन जाता है। आप विद्यार्थी हैं, किसी अन्य विद्यार्थी से कक्षा में आते-जाते ठोकर लग गई। आप आवेश में आकर कहते हैं—'अन्धा है, देख कर नहीं चलता ?" उत्तर मिलता है—"तुम्हीं अन्धे हो, जो रास्ते से सटकर बैठे हो" अहिंसा की भाषा में यदि आप कहते हैं—"भूल कर मैं रास्ते पर बैठ गया, इससे आपको कष्ट हुआ।" उस समय उत्तर आता है—"आपने क्या भूल की, मैं ही अन्धा होकर चल रहा था। आप क्या कोई छोटी-सी वस्तु थे, जो मैं नहीं देख पाया।" यह है, अहिंसा का चमत्कार। जीवन-व्यवहार में आप विवेकपूर्वक अहिंसा को अपनाते जाइये और उसका सुफल पाते जाइये। धीरे-धीरे जीवन में गाली, क्रोध, आवेश आदि शून्य होते जायेंगे।

जीवन में सफलता का आधार भी अहिंसा ही है। एक सामाजिक कार्यकर्ता या नेता, जिसके जीवन में उदारता, न्याय, सौहार्द और उत्सर्ग है, अपने कार्यक्षेत्र में आगे बढ़ जाता है। जिस कार्यकर्ता या नेता के जीवन में अहंकार, संकीर्णता स्वार्थ आदि दोष हैं, वह अपने साथ जन-समुदाय को लेकर नहीं चल सकता। उसे पग-पग पर बाधाओं, असफलताओं व आलोचनाओं का सामना करना कड़ता है।

पारिवारिक और सामाजिक क्षेत्र में आगे बढ़ कर अहिंसा ने राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र को भी चमत्कृत किया। भारत जैसे विशाल राष्ट्र का बिना किसी रक्त-क्रान्ति के स्वतंत्र होना विश्व के इतिहास में अपूर्व घटना है। विगत दो दशकों में अनेक युद्ध शस्त्रास्त्रों के प्रयोग में लम्बे होते ही गये, अन्त में सौहार्दपूर्ण विचार-विनिमय और बीच-बचाव से उनका अन्त हुआ। निःशस्त्रीकरण और सह-अस्तित्व की बात आज भी अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में गूंज रही है।

अपेक्षा है, जीवन के प्रत्येक व्यवहार में हिंसा मिटती जाये और अहिंसा विकसित होती जाये। अहिंसा का आरम्भ स्व-दोष-दर्शन से होता है। हिंसा का आरम्भ पर-दोष-दर्शन से होता है। अपने दोष देखने में समस्याओं का समाधान है, दूसरों के दोष देखने में समस्याओं का विस्तार। अपने दोषों को देखने की बात में दूसरों के गुणों को देखने की बात स्वतः आ ही जाती है। इसीलिए तो कहा है—

पर-गुण परमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यम्
निज हृदि विकसन्तः सन्ति सन्तिः कियन्तः ?

दूसरों के परमाणु जितने छोटे गुणों को भी पर्वतों के समान बड़े मान कर अपने हृदय में प्रसन्न होने वाले सज्जन संसार में कितने हैं ? जितने हैं, वे निश्चित ही अहिंसा के अक्षांश पर हैं।

प्रज्ञा-परीक्षण

१. बुद्ध से दो व्यक्तियों ने जो प्रश्न पूछे और बुद्ध ने उनका जो समाधान दिया, उस सब को अपने भाव व भाषा में स्पष्ट करो।

२. अपने दोष देखते रहने में और दूसरों के दोष देखते रहने में क्या अंतर है और सामाजिक जीवन पर दोनों प्रवृत्तियों का क्या-क्या प्रभाव पड़ता है ?

३. हिंसा का स्थूल रूप क्या है और सूक्ष्म रूप क्या है तथा इन दोनों दोषों में मूल-भूत और व्यापक कौनसा है ?

४. ठोकर लगा देने वाले के साथ अहिंसा की भाषा क्या होगी और हिंसा की भाषा क्या होगी एवं दोनों का परिणाम क्या होगा ?

५. व्यक्तित्व के विकास में अहिंसा कैसे सहायक होती है, किसी उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करें।

: ५ :

क्रोध की अवरोधक रेखाएं

तिरुवल्लुवर दक्षिण के एक महान् सन्त थे। वे जुलाहा थे। साड़ियां बेचा करते थे। एक दिन युवकों की एक टोली उधर से निकली। तिरुवल्लुवर को दूर से देखते ही कुछ युवकों ने कहा—"यह जुलाहा सधा हुआ सन्त है। इसे क्रोध नहीं आता।" टोली में एक धनवान् का लड़का था। वह स्वभाव से बहुत ही उद्दण्ड था। उसने कहा—"मैं देखता हूं, इसे क्रोध कैसे नहीं आता!" टोली तिरुवल्लुवर के सामने आ खड़ी हुई। उद्दण्ड युवक ने एक साड़ी उठाई और पूछा—"इसका क्या मूल्य है ?"

तिरुवल्लुवर—"दो रुपये।"

युवक ने साड़ी को फाड़कर दो टुकड़े कर दिये और एक टुकड़े को हाथ में लेकर पूछा—"इसका क्या मूल्य है?"

तिरुवल्लुवर ने उसी शान्त भाव से कहा—'एक रुपया।"

युवक टुकड़े करता ही गया और पूछता गया "इसका क्या मूल्य ?" साड़ी का एक-एक तार कर डाला। युवक के इस छिछोरेपन पर भी तिरुवल्लुवर के चेहरे पर न कोई अशांति थी और न कोई व्यग्रता ही थी। युवक अपने आप को पराजित-सा अनुभव करने लगा। उसने दो रुपये निकाले और यह कहते हुये कि तुम्हारा नुकसान कर दिया, तिरुवल्लुवर के सामने रख दिये। तिरुवल्लुवर ने कहा—"तुम्हारा पिता कहेगा–'घर में माल तो लाया ही नहीं, दो रुपये तुमने कहां खोये ?'' बेटा! ये दो रुपये तुम अपने पास ही

रखो।" युवक का हृदय गद्गद हो गया। वह सन्त के चरणों में गिर कर अपने किए पर क्षमा-याचना करने लगा।

क्रोध-विजय का यह एक अनूठा उदाहरण है। तनिक-सा मन के प्रतिकूल होते ही मनुष्य क्रोध से उबल पड़ता है। गालियां बोलता है और झगड़ा करता है। यह नितान्त आवेश होता है। उसका परिणाम कभी अच्छा नहीं होता। दूसरों की भूलों को क्षमा करना ही महान् व्यक्तित्व का लक्षण होता है। क्षमा मंगवाने से कोई क्षमा नहीं मागता। क्षमा करने से सामने वाला व्यक्ति सहज की क्षमा मांग लेता है। किसी भी व्यक्ति के दुर्व्यवहार का तीखा प्रतिकार अपना मधुर व्यवहार ही होता है।

क्रोध असभ्यता का लक्षण भी है जब आदमी क्रोध में बहक रहा हो, कोई परिचित सभ्य आदमी उसके सामने आ जाये, तो अपनी बहक पर उसे लज्जित होना होता है। क्रोध के समय मनुष्य की जो सूरत बनती है, उसे वह स्वयं ही दर्पण में देख ले तो शायद उसे भविष्य के लिए क्रोध से नफरत हो जाये। क्रोध का सहजात बन्धु ही आवेश होता है। आवेश में व्यक्ति बहुत ही अविचारित कर लेता है। आत्म-हत्या तक के अपकार्य भी आवेश में ही होते हैं। क्रोध, आवेश और असहिष्णुता का कुप्रभाव स्वास्थ्य पर भी पड़ता है। वह कुप्रभाव कभी-कभी घातक भी हो जाता है।

क्रोध के सद्भाव में सहिष्णुता का अभाव होता है। सहिष्णुता के अभाव में सारा जीवन ही निराशा, असफलता, एकाकीपन आदि से भर जाता है। जीवन स्वयं ही एक संघष होता है। इसमें परिस्थितियों के साथ लोहा लेते हुए मनुष्य को आगे बढ़ना होता है। तनिक-सी असफलता से घबरा जाने वाला व्यक्ति परिस्थितियों पर कभी विजय नहीं पा सकता। उसे उनके सामने घुटने टेकने ही होते हैं। धैर्य ही मनुष्य की कसोटी है। अनुकूलता में आनन्दित रहने वाले

बहुत लोग होते हैं, पर जब प्रतिकूलता के घनघोर बादल सर पर मंडराते हों, भाग्य सब उल्टा ही चलता हो, उस समय भी उस व्यक्ति के होठों पर मुस्कराहट रहे, वही वास्तव में पुरुषार्थ का प्रतीक पुरुष है।

क्रोध क्यों होता है और उसके निराकरण के उपाय क्या हैं ?

जन्मजात बालक की, बोलना, चलना आदि अधिकांश, क्रियाओं का विकास अनुकरण प्रधान होता है। उन क्रियाओं में क्रोध करना भी एक है। बालक के क्रोधी होने में पारिवारिक वातावरण भी प्रमुख कारण है। वतावरण शिशु-अवस्था में ही क्रोध का बीजारोपण कर देता है। उसके बाद कोई बाधक परिस्थिति हो तो वह बढ़ता ही जाता है। क्रोध की साधक परिस्थिति ही उसे आगे से मिलती रहे, तो उसका विकास असामान्य रूप से हो जाता है। क्रोध के स्वभाव को बदलना कठिन अवश्य है, किन्तु असम्भव नहीं। उसके लिए मुख्य तीन उपाय हैं :

१. आत्म-विवेक का जागरण

स्वयं को यह अनुभव हो जाना चाहिये कि मेरे में क्रोध की मात्रा असामान्य है। इसे मुझे घटाना है। कोई भी दोष तब तक निराकृत नहीं होता, जब तक वह आत्मगम्य न हो जाये।

२. प्रेरणा-ग्रहण

क्षमाशील लोगों के जीवन-व्यवहार को साक्षात् देखते रहें और उससे सीखते रहे कि प्रतिकूल स्थितियों में भी वे कैसे सन्तुलित व प्रसन्न रह जाते हैं। इससे भी अधिक महत्व की बात होगा, आप क्षमाशील लोगों के जीवन-चरित्र पढ़ें और उनके क्षमापरक संस्मरणों पर चिन्तन-मनन करते रहें। इस प्रेरणा से अद्भुत क्षमा-शक्ति का आविर्भाव होता चलेगा।

३. आत्म-चिन्तन और संकल्प

क्रोध ज्वार होकर आया और ज्वार की तरह ही उतर गया। अब आप आत्म-चिन्तन करें कि क्रोध क्यों आया ? आने से लाभ क्या हुआ ? भविष्य में ऐसे प्रसंगों पर मुझे विशेष सावधान रहना है। आप संकल्प करें, अब मैं ऐसे प्रसंगों पर क्रोध नहीं आने दूंगा। दिल और दिमाग को मैं अपने नियन्त्रण में रखूंगा।

उक्त तीन धाराएं सचमुच ही क्रोध की अवरोधक रेखाएं हैं। इनके अभ्यास में क्रोध का निराकरण और क्षमा का विस्तार एक सहज बात है।

प्रज्ञा–परीक्षण

१. तिरुवल्लुवर कौन थे और उन्होंने क्षमा और धैर्य का क्या परिचय दिया ?

२. किसी भी व्यक्ति के दुर्व्यवहार का तीखा प्रतिकार क्या होता है ?

३. पुरुषार्थ का प्रतीक पुरुष किसे कहा जाना चाहिए ?

४. क्रोध क्यों होता है और उसके निराकरण के उपाय क्या हैं ?

५. क्रोध–निवारण के तीन उपायों में कौनसा उपाय आपको विशेष प्रेरक लगा।

: ६ :

अहिंसा की निरुपम सफलता

(गांधार जातक का एक घटना-प्रसंग)

पूर्णिमा की रात थी। गांधार देश का राजा अपने राज-प्रसाद की ऊपरी सतह पर मंत्रियों के साथ मंत्रणा कर रहा था। रात का प्रथम प्रहर था। चांदनी प्रतिक्षण बढ़ती ही प्रतीत हो रही थी। राजा राज-मन्त्रणा में घुलता जा रहा था। सहसा चान्दनी घटने लगी। घटते-घटते वह इतनी कम हो गई, मानो चन्द्रमा अस्त ही हो रहा हो। राजा का ध्यान टूटा। आकाश की ओर झांका, देखा, चांद भी शिखर पर है और आकाश में बादल भी नहीं हैं। राजा विस्मित भाव से मंत्रियों की ओर झांकने लगा। किसी मन्त्री ने कहा—"राहु के द्वारा चन्द्रमा ग्रसित हुआ है। आज चन्द्र-ग्रहण है।" राजा के मन पर एक धक्का-सा लगा-इतना स्वच्छ और परिपूर्ण चन्द्रमा, उसका भी राहु के द्वारा ग्रहण? चन्द्रमा गगन का राजा है। मैं पृथ्वी का राजा हूं। उसका ग्रहण राहु कर सकता है, तो मेरा ग्रहण काल (मृत्यु) के द्वारा कभी हो सकता है। राजा को विराग हुआ। जगत और जीवन की नश्वरता को उसने जाना। अगले ही दिन वह समग्र राज-वैभव को ठुकरा कर भिक्षु बन कर राजमहल से निकल पड़ा।

सुदूर देशों में बात फैल गई; गांधार-नरेश भिक्षु बनकर घर से निकल पड़ा। विदेह देश के राजा ने यह संवाद सुना। गांधार और विदेह राज्य में मैत्री-सम्बन्ध था। अपने मित्र राजा के भिक्षु

बनने की बात से विदेह नरेश को भी विराग हुआ। वह भिक्षु बन कर राज-महलों से निकल पड़ा। दोनों राजर्षि साधना में लीन हो गए। अपने-पराये का भेद मिटने लगा। ध्यान, आत्म-चिन्तन और कषाय-विजिगिषा में ही वे रमने लगे। आकाश में भ्रमण करते हुए दो ग्रह जैसे एक राशि पर आ जाते हैं, दोनों राजर्षि भी आकस्मिक रूप से एक दूसरे से मिल गए। समान चर्या के कारण दोनों में सामीप्य हो गया। साथ-साथ परिव्रजन करने लगे। एक दूसरे के अतीत को जानने की जिज्ञासा किसी के मन में नहीं हुई। दोनों ही आत्मा के अन्तर आलोक में भ्रमण करते थे। एक दिन दोनों ही राजर्षि एक घने वृक्ष की छाया में शान्त विहार कर रहे थे। रात हो गई। आकाश में चन्द्रमा उग आया। समग्र पृथ्वी चान्दनी से झलाझल भर गई। रात पूर्णिमा की थी। उस दिन भी चन्द्र-ग्रहण हुआ। गांधार के राजर्षि को अपने अभिनिष्क्रमण की बात याद आई। गांधार के राजर्षि ने कहा—"मेरे अभिनिष्क्रमण में यह चन्द्र-ग्रहण ही निमित्त बना था।" विदेह के राजर्षि ने कहा—"क्या आप ही गांधार के राजा थे?" उत्तर मिला—"मैं ही गांधार-नरेश था। आप भी तो बतायें, भिक्षु-पर्याय से पूर्व आप क्या थे?" उत्तर मिला- "मैं विदेह देश का राजा था और आपके घटना-प्रसंग को सुनकर भिक्षु बन गया। हम दोनों मित्र राजा थे। हम परस्पर कभी मिले नहीं थे, पर हमारा परम्परागत सम्बन्ध घनिष्ठ मित्रता का था।" परस्पर के सम्बन्धों की व अभिनिष्क्रमण की अवगति दोनों के लिए ही आह्लादप्रद रही। दोनों का आत्मिक सामीप्य और सघन हो गया।

दोनों राजर्षि परिभ्रमण करते हुए एक ऐसे प्रदेश में पहुँचे, जहां अधिकांश लोग अलोना ही भोजन किया करते थे। दोनों राजर्षियों को भी भिक्षा में अलोना ही भोजन मिलता। गांधार

राजर्षि उसे सह गये। विदेह राजर्षि सह नहीं सके। वे अलौने भोजन के कारण तिलमिलाए से रहते। एक दिन विदेह राजर्षि को किसी दाता ने नमक लेने का आग्रह किया। राजर्षि ने बहुत सारा नमक ग्रहण कर लिया। गठरी में बांधकर अपने पास रख लिया। सोचा— अब अलोनेपन की कोई चिन्ता नहीं; जब तब यह काम आता रहेगा। वे जानते थे कि भिक्षु के लिए संग्रह वर्जित है, पर अपनी मानसिक दुर्बलता के कारण उसे छोड़ नहीं सके। एक दिन दोनों राजर्षि भोजन के लिए बैठे। भोजन अलोना था। विदेह राजर्षि ने नमक की गठरी निकाली। अपने भोजन में नमक डालना शुरू किया। गांधार राजर्षि यह सब देख कर विस्मित भी हुए, क्षुब्ध भी हुए। दोनों में वार्तालाप ठन गया।

गांधार राजर्षि—"अरे! यह क्या; आपने तो नमक की गठरी रख छोड़ी है? भिक्षु-चर्या के विरुद्ध ऐसा आचरण?"

विदेह राजर्षि-"मेरे से अलोना भोजन नहीं खाया जाता। नमक की गठरी पास रख लेने में कौनसा बड़ा दोष हो गया? नमक ही तो है आखिर; स्वर्ण, रजत या रत्न-राशि तो नहीं है?",

गांधार राजर्षि—"यह क्या? दोषारोपण भी और उसका आग्रह भी? आप भिक्षु नहीं हैं। केवल पेटभरू हैं। क्या विदेह देश का राज पेटभराई के लिये छोड़ा है? क्या यही आपकी साधना है?"

विदेह राजर्षि—"आप मेरी साधना को बखानते हैं, मुझे पेट-भरू बताते हैं। आप स्वयं को नहीं देखते, कितना क्रोध आपको आ रहा है। कितने अपशब्दों का प्रयोग आप मेरे लिये कर रहे हैं। नमक की गठरी रख लेने मात्र से मेरे असंग्रह की साधना टूटती है, तो क्या आपके आवेश पूर्ण व्यवहार से आपकी अहिंसा की साधना नहीं टूटती? आप मेरे पर हुकूमत करते हैं, क्या दूसरों पर हुकुमत करने के लिये आपने गांधार देश का राज छोड़ा है?"

गांधार राजर्षि सम्भले। अपने आपको शान्त करते हुए वे बोले—"आप ठीक कहते हैं। मैंने अपनी अहिंसा की साधना को खण्डित किया है। मुझे आप पर अनुशासन करने की कोई अपेक्षा नहीं थी। अच्छा होता, मैं अपने को ही सम्भाल के रखता। आप क्षमाशील हैं। मुझे अपनी भूल के लिये क्षमा करें।"

सुनते ही विदेह राजर्षि भाव-विभोर हो गये। उन्हें भी अपना दोष दीखने लगा। वे गांधार नरेश से बोले—"आप तो महान् हैं। मैंने बहुत ही तुच्छता का परिचय दिया। आपने तो हकूमत क्या की, मेरे ही हित के लिए सब कुछ कहा। मैंने गठरी रख कर असंग्रह की साधना तोड़ी और अभी आवेश में आकर अहिंसा की साधना तोड़ी। आप पूज्य हैं। मुझे क्षमा करें।" यह कहते हुए विदेह राजर्षि गांधार राजर्षि के चरणों में गिर गये। गांधार राजर्षि ने उन्हें उठाकर अपनी बाहों में भर लिया। दोनों का हृदय भर गया। गला रुंध गया। आंखें सजल हो गईं। दोनों अपने आपको दोषी बताते रहे और मूक स्वरों में एक-दूसरे से क्षमा मांगते रहे।

त्याग और साधना का यह एक अनूठा उदाहरण है। चन्द्र-ग्रहण को देख कर भिक्षु-चर्या के लिए प्रेरित हो जाना व्यक्त करता है कि मनुष्य किसी भी घटना-प्रसंग से कितनी ही सुन्दर प्रेरणा ले सकता है। नमक की गठरी का रख लेना व्यक्त करता है, अस्वाद की साधना कठिन है और इसमें कभी-कभी बड़े-बड़े योगी भी असफल रह जाते हैं। गांधार देश के राजर्षि अस्वाद की साधना से सफल रहे, पर अहिंसा की साधना में एक बार के लिए डगमगा गये। फिर सजग हो गये। तात्पर्य हुआ, साधक अपूर्ण होता है और वह अपने को सम्भाल-सम्भाल कर मंजिल की ओर बढ़ता है। गांधार राजर्षि आवेश की भाषा में कहते गये, तब तक विदेह राजर्षि भी उग्र होते

गये । उनके क्षमा-याचना करते ही विदेह राजर्षि भी अपनी भूलों को स्वीकार करने लगे । यह अहिंसा की निरुपम सफलता है ।

प्रज्ञा-परीक्षण

१. गान्धार देश के राजा को प्रकृति जगत् की किस घटना से विराग उत्पन्न हुआ ?

२. विदेह देश के राजा को वैराग्य कैसे हुआ तथा गान्धार देश के राजा के साथ वे कैसे परिचित हुए ?

३. गान्धार राजर्षि और विदेह राजर्षि के बीच किस घटना-प्रसंग पर विवाद छिड़ा ?

४. दोनों राजर्षियों का बढ़ता हुआ विवाद एकाएक क्षमा-याचना के दौर पर कैसे चला गया ?

५. समग्र घटना-प्रसंग से क्या-क्या आदर्शरूप तथ्य निकाले जा सकते हैं ?

अनुशासन:एक सामाजिक अपेक्षा

एक युग था, जब परिवार, समाज, नगर, देश आबाद नहीं थे। मनुष्य इकाइयों में बटा था। धीरे-धीरे पारिवारिक और सामाजिक जीवन जीने का वह आदी हुआ। ग्राम, नगर और देश बने। व्यष्टि को समष्टि में टिका देने वाला गुण था, अनुशासन। आज भी पारिवारिक जीवन से राष्ट्रीय जीवन तक मनुष्य अनुशासन के धागों से बन्धा है। जहां-जहां वह अनुशासन के उन बन्धनों को तोड़ता है, जीवन में अस्त-व्यस्तता आती है। परिवार, समाज और राष्ट्र की समष्टियां विश्रृंखल होने लगती हैं।

भारतीय जीवन का अनुशासन रहा है, पुत्र माता-पिता की आज्ञा का पालन करे। इसी अनुशासन की पुष्टि में ऋषि आशीर्वाद देते—**मातृ देवो भव, पितृ देवो भव** अर्थात् माता को देवता समझ, पिता को देवता समझ। छोटा भाई बड़े भाई की आज्ञा का पालन करे। इस अनुशासन का उदाहरण राम के प्रति लक्ष्मण का समर्पण और अनुवर्तन है। पत्नी पति की आज्ञा का पालन करे। इस अनुशासन के उदाहरण में उन अनेक महिलाओं के जीवन चरित्र हैं जो पति-सेवा में लीन रही हैं और उसमें अपने आपको न्यौछावर किया है। शिष्य गुरु की आज्ञा का पालन करे, इस अनुशासन के उदाहरण में एकलव्य का नाम प्रथम रूप से आ सकता है। कर्मकर स्वामी की आज्ञा का पालन करें। स्वामी के प्रति पूर्ण प्रामाणिक रहें, इस अनुशासन का उदाहरण राजा हरिश्चद्र हैं; श्मशान में प्रहरी रहते हुए जिन्होंने अपनी पत्नी से भी आधा कफन शुल्क में मांग लिया।

सामान्य दृष्टि में उक्त अनुशासन-व्यवस्था भेद मूलक और एकान्तिक लगती है। शासक और शाषित; ये दो श्रेणियां इसमें स्पष्ट दिखलाई देती हैं। पर वस्तुस्थितियह है कि इस व्यवस्था में जितना दायित्व पुत्र पर आता है, उससे अनेक गुना दायित्व माता-पिता पर आ जाता है। अनुशासन में चलना जहां पुत्र का काम है, वहां पुत्र के सुख-दुःख, लाभ-अलाभ की सारी चिन्ता माता-पिता पर आ जाती है। इसी प्रकार छोटे भाई, पत्नी, शिष्य, कर्मकर आदि पर अनुशासन निर्वाह का दायित्व आता है; और बड़े भाई, पति, गुरु, स्वामी आदि पर उनके जीवन का समग्र दायित्व आ जाता है। इससे भी महत्व की बात उक्त अनुशासन-व्यवस्था में यह है कि वहां कोई सौदागिरी है ही नहीं। पुत्र माता-पिता के अनुशासन का पालन इस सौदे से नहीं करता कि वे मेरे जीवन की अन्य चिन्ताएं करते रहे हैं या करते रहेंगे। दोनों ही पक्ष स्नेह और ममता से ओत-प्रोत होकर एक दूसरे पर समर्पित रहते हैं। यही तो कारण है, माता-पिता पुत्रों के लिए व पुत्र माता-पिता के लिये बलिदान होते रहे हैं। यही स्थिति अन्यान्य सम्बन्धों में रही है। इस स्थिति में दिखाई देने वाला भेद अभेद बन जाता है और एकान्तिकता सर्वांगीणता बन जाती है।

युग ने करवट ली। समानता का उद्घोष फूटा। बुद्धि तर्क के तीखे औजार हाथ में लेकर आगे बढ़ी। लगा, माता-पिता पुत्र को अधिकार-शून्य किए बैठे हैं। इसी प्रकार बड़ा भाई छोटे भाई को, पति पत्नी को, गुरु शिष्य को, स्वामी श्रमिक को सत्व-शून्य रख रहा है। युग का यह दर्शन नितान्त यथार्थ नहीं, तो नितान्त भ्रान्ति भी नहीं था। शासक वर्ग अपने दायित्व को भूलकर शोषक बनने जा रहा था। तर्क की कसौटी पर आया, राम का अकारण वनवास क्या पितृ-अधिकार का दुरुपयोग नहीं था? द्रोपदी को द्यूत पर लगा देना

क्या पति-अधिकार का दुरुपयोग नहीं था ? द्रोणाचार्य द्वारा एकलव्य का अंगुष्ठ दक्षिणा में मांग लेना क्या गुरु-अनुशासन का दुरुपयोग नहीं था ? अस्तु, किन्हीं कारणों से हो, पर वर्तमान युग में अनुशासन को चुनौती मिली। विद्यार्थी हड़ताल और तोड़-फोड़ तक आगे वढ़े। श्रमिक घेराव तक आगे बढ़े। महिलाएं पतियों को लांघ-कर चल रही हैं और पुत्र अपने माता-पिता को।

स्थिति यह है कि प्राचीन अनुशासन-व्यवस्था में मनुष्य की आस्था नहीं रही है और नई व्यवस्था कोई उसके सामने नहीं है। इस संक्रान्ति वेला में मनुष्य को कोई निश्चित हल निकालना है। यह निर्विवाद है कि प्रस्तुत अनुशासन-व्यवस्था में कुछ दोष आया है। अनुशासक वर्ग स्वयं को ही सब कुछ मान वैठा है। अनुशासित वर्ग की चिन्ता उसे जितनी होनी चाहिए, उतनी नहीं हो रही है। वह चाहता है, मेरी आय सौ गुनी हो जाए, पर मजदूर अपनी उसी आय पर काम करता रहे। वर्तमान युग में यह चलने की बात नहीं है। अनुशासक वर्ग को अनुशासक ही बने रहना है, तो उसे स्वयं को वदलना अनिवार्य होगा।

यह पहले बताया जा चुका है, परिवार, समाज और राष्ट्र-रूप समष्टियों का एकमात्र आधार अनुशासन है। मूलगत बन्धन के विना जैसे झाड़ू के तिनके एक-एक करके विखर जाते हैं, अनुशासन की शृंखला के बिना उक्त समष्टियां भी छिन्न-विछिन्न हो जायेंगी। मनुष्य ने अनगिन शताब्दियों में सामाजिक जीवन की दिशा में जो विकास किया है, वह समाप्त हो जायेगा, अतः अपेक्षा है, विद्यार्थी, श्रमिक आदि कोई भी समुदाय किसी भी परिस्थिति में अनुशासन को चुनौती न दे। अनुशासन को चुनोती देना ही समस्या का एक मात्र समाधान नहीं है। अन्य भी उसके अनेक मार्ग हो सकते हैं। अनुशासन

को चुनौती देना सचमुच ही सामाजिकता और नागरिकसुव्यवस्था को चुनौती देना है। समस्याएं वैयक्तिक या वर्गिक हैं, अनुशासन सामाजिक है।

प्रश्न–परीक्षण

१. जीवन व्यष्टि से समष्टि में क्रमशः कैसे आया तथा समष्टि को टिकाने का मूलभूत आधार क्या बना ?

२. पुत्र माता-पिता की छोटा भाई बड़े भाई की, पत्नी पति की, शिष्य गुरु की, कर्मकर स्वामी की आज्ञा का पालन करता रहे—इस मान्यता के भारतीय संस्कृति में मौलिक उदाहरण क्या हैं ?

३. भारतीय जीवन में अनुशासक और अनुशासित के सम्बन्ध वलिदान और उत्सर्ग की भूमि पर किस प्रकार खड़े किये गये थे ? आप अपने शब्दों में व्यक्त करें।

४. माता-पिता आदि शासक लोग अपने दायित्व का लंघन किस प्रकार से करने लगे ? चन्द उदाहरणों से स्पष्ट करें।

५ अनुशासन को चुनौती देना, सामाजिकता और नागरिकता को चुनौती देना कैसे है ? अपने शब्दों में विवेचन करें।

: ८ :

नैतिक मूल्य ह्रास की ओर या विकास की ओर ?

यह एक ढर्रे की बात हो गई है कि मनुष्य अतीत को स्वर्णिम मानकर चलता है और वर्तमान को हीन मानकर। भारतवर्ष में यह दृष्टिकोण विशेषतः मिलता है। वर्तमान को प्रेरित करने के लिये अतीत को गौरव-युक्त बताना एक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण हो सकता है, पर इसे एक सत्य के रूप में स्वीकार कर लेना यथार्थता के बहुत ही परे की बात हो जाती है। ह्रास या विकास कभी एकान्तिक नहीं होते। वे सापेक्ष स्थिति से चलते रहते हैं। वर्तमान के लिये तो मनुष्य यह कह देने का आदी हो गया है कि समय बहुत बुरा आ गया है। आज के लोग भी यही कहते हैं और सौ वर्ष पूर्व के बही-खातों में भी यही लिखा मिलता है। तात्पर्य हुआ, जिस अतीत को हम श्रेष्ठ कहते हैं, वह अतीत अपने वर्तमान में बुरा ही कहा जाता था। ऐसा क्यों कहा जाता है? इसका उत्तर है—मनुष्य अपने ढर्रे के अनुसार वर्तमान के दोष ही देखता है और अतीत के गुण ही। दोनों ही दृष्टिकोण एकान्तिक हैं। वर्तमान में सब कुछ बुरा नहीं होता और अतीत में सब कुछ अच्छा नहीं होता।

सत्य के अधिक समीप तो यह है कि मनुष्य का प्रत्येक विकास क्रमिक रूप से होता रहा है। गिरि-कन्दराओं में रहने वाला मनुष्य आज अट्टालिकाओं में रहता है। मृगछाला या वल्कल पहनने वाला मनुष्य आज सिल्क और टेरेलिन पहनता है। पैदल चलने वाला मनुष्य

आज वायुयान और अन्तरिक्ष-यान में बैठता है। दीपक के प्रकाश में काम करने वाला मनुष्य आज डे-लाईट में काम करता है। पत्थरों से लड़ने वाला मनुष्य आज परमाणु बमों और उद्जन बमों से लड़ता है। स्वल्प साधनों में जीने वाला मनुष्य आज साधनों के ढेर पर बैठा है। अब आप सोचें, युग विकास की ओर गति कर रहा है या ह्रास की ओर?

कहा जा सकता है, यह तो भौतिक विकास की बात है। भौतिक दृष्टि से मनुष्य वर्तमान युग में आगे बढ़ा है, पर नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से वह क्रमशः रसातल की ओर जा रहा है। यह भी एकान्तिक सत्य नहीं है। यह ठीक है, रिश्वत, चोरबाजारी आदि अनैतिकताएं देश में बढ़ती ही नजर आ रही हैं, पर मूलतः आध्यात्मिक और नैतिक मूल्य क्रमिक विकास की दिशा में आगे ही बढ़े हैं। हम सर्वप्रथम अहिंसा को ही लें। किसी भी राजा का दूसरे देशों पर आक्रमण करते रहना शौर्य का प्रतीक माना जाता था। इसी आधार पर लोग वासुदेव और चक्रवर्ती बनते थे। वर्तमान युग में आक्रमण एक राजनैतिक अनैतिकता बन गया है। आक्रान्ता होकर भी कोई राष्ट्र अपने को ऐसा घोषित करने का साहस नहीं करता, यह अहिंसा का विकास है। अहिंसा-सम्बन्धी मूल्य ऊपर उठे हैं, यह इस बात का सूचक है। सह अस्तित्व और निःशस्त्रीकरण की बातें भी अहिंसात्मक विकास की सूचक है।

ब्रह्मचर्य को लें। एक पति के अनेक पत्नियों का होना सामाजिक रूप से वर्जित नहीं था। एक-एक राजा के सहस्रों रानियां होती थी। यह भी अनैतिक नहीं माना जाता था, प्रत्युत उनकी वैभवशीलता मानी जाती थी। आज अमीर, गरीब सबके लिए एक-एक पत्नी की ही सामाजिक मान्यता है। अनेक पत्नियों का होना अनैतिक और असंवैधानिक मान लिया गया है। यह ब्रह्मचर्य सम्बन्धी

मान्यताओं का विकास नहीं तो क्या है ? हम अपरिग्रह को भी लें। विक्रेता अपनी वस्तु का चाहे जितना मूल्य ले; उसका अधिकार माना जाता था : विक्रेता वस्तु का चाहे जितना संग्रह चाहे जितने दिनों के लिए करे, एक सहज वात मानी जाती थी। आज वह सब सामाजिक अनैतिकता का रूप ले रहा है। अस्तु, इस प्रकार आध्यात्मिक व नैतिक मूल्य क्रमिक रूप से विकसित हो रहे हैं, यह मान लेना तर्क-शून्य नहीं है।

अतीत की विशेषताओं को ही देखते रहना और वर्तमान की न्यूनताओं को ही देखते रहना, यह यथार्थ भी हैं और दोषपरक भी है। हीन पक्ष को ही देखते रहने में एक मानसिक दैन्य का उदय होता है और वह मनुष्य को दुःखी वनाता है। आज समाज अपने आप को जो दुःखी समझ रहा है, उसका मुख्य कारण भी यह ढर्रे का चिन्तन ही है। आज का मनुष्य केवल अनाज के अभाव को देख रहा है, मंहगाई को देख रहा है। वढ़ते हुए करों को देख रहा है और प्रतिदिन अपने आपको दुःख की ओर अग्रसर होते अनुभव कर रहा है। पर चिन्तन के क्षेत्र में उक्त वातें ही तो सव कुछ नहीं हैं। जीवन के ओर भी अनेकों पहलू हैं, जो युग से उसे वरदान रूप मिले हैं। दुःख का एकान्तिक चिन्तन मनुष्य में हीनता और निष्क्रियता पैदा करता है। सुख का एकान्तिक चिन्तन मनुष्य में गर्व और आलस्य पैदा करता है। सुखी और विकसित वने रहने के लिए मध्यम मार्ग ही अपेक्षित होता है। अतीत, वर्तमान और अनागत के गुण और दोषों को समझ कर चलना होता है। अतीत के गौरव को कह कर हम वर्तमान को प्रेरित करें और वर्तमान की अनुकूलताओं का विकास कर हम भविष्य का निर्माण करें, यही वस्तुतः मध्यम मार्ग है।

प्रज्ञा-परीक्षण

१. हम वर्तमान को हीन और अतीत को उच्च कहें, यह किस दृष्टिकोण से उपयुक्त हो सकता है।

२. ह्रास से विकास एकान्तिक होता हैं या सापेक्ष ?

३. युग क्रमिक रूप से विकास की ओर कैसे बढ़ रहा है ?

४. आध्यामिक और नैतिक दृष्टि से समाज क्रमिक विकास कैसे कर रहा है ? तर्कगम्य और बुद्धिगम्य विवेचन करें ?

५. अतीत को गौरव के और वर्तमान को हीनता के सन्दर्भ में ही देखना क्यों दोषपरक है ? तथा अतीत, वर्तमान और अनागत को देखने का मध्यम दृष्टिकोण क्या है ?

: ९ :

समाज और सह-अस्तित्व

सह-अस्तित्व शब्द वर्ण-विन्यास की दृष्टि से बहुत अर्वाचीन है और भाव-विन्यास की दृष्टि से बहुत प्राचीन है। भगवान् महावीर ने कहा:

> सव्वे जीवावि इच्छन्ति जीविउं न मरज्जिउं।
> तम्हा पाणिवहं घोरं निग्गन्था वज्जयंति णं।।

सभी प्राणी जीना चाहते हैं। मरना कोई भी नहीं चाहता; इसलिए प्राणि-वध महापाप है और वह साधु पुरुषों के लिए वर्जनीय है।

वैदिक सूक्तों में ऋषियों ने गाया:

> मित्रस्य चक्षुषाहं सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
> मित्रस्य चक्षुषा मा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।।

मैं मित्र की दृष्टि से विश्व के समस्त प्राणियों को देखूं। विश्व के सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें।

इस प्रकार विश्व-बन्धुता और विश्व-मैत्री की बात सह-अस्तित्व के विचार पर ही खड़ी की गई है। इसे प्राचीन वर्ण-विन्यास में अभेद बुद्धि या आत्मौपम्य बुद्धि कहा जाता था। भारतीय दर्शन का एक चिन्तन है, स्याद्वाद। वह जैन चिन्तन की देन है। वह बताता है, व्यक्ति-व्यक्ति और पदार्थ-पदार्थ परस्पर भिन्न भी है और अभिन्न भी। एक सम्राट् और एक भिखारी परस्पर भिन्न इसलिए हैं कि

एक सिंहासन पर बैठता है, राज्य चलाता है तथा एक भीख मांगता और जन-जन से तिरस्कृत होता है। ये ही दोनों अभिन्न इसलिए हैं कि सम्राट् भी मनुष्य है और भिखारी भी मनुष्य। दोनों ही अन्न व पानी पर जीते हैं और अनुकूल व प्रतिकूल की सुख व दुःख के रूप में अनुभूतियां करते हैं। दोनों ही मानव समाज के अभिन्न अंग हैं। यह भिन्न-भिन्न स्थिति मनुष्य और मनुष्य के बीच ही नहीं है, अपितु मनुष्य और पशु के बीच भी परस्पर भिन्नाभिन्न है। एक मनुष्य है और एक घोड़ा है। मनुष्यत्व और पशुत्व की दृष्टि से दोनों भिन्न है, पर दोनों ही प्राणी हैं, इसलिए दोनों परस्पर अभिन्न भी हैं। प्राणी शब्द का सम्बोधन दोनों तक ही समान रूप से पहुँचाता है। इस प्रकार यह स्याद्वाद का विचार भेद में भी अभेद का दर्शन कराता है। यह अभेद-दर्शन समाज से लिये बहुत उपयोगी है। अनेक व्यष्टियां मिलकर एक समष्टि बनती है। उसे समाज कहते हैं। समाज टिकता ही उसी बात पर है कि मनुष्य भेद को गौण कर जीवन-व्यवहार में अभेद को मुख्यता देता है।

विज्ञान के क्षेत्र में सापेक्षवाद का सिद्धान्त आया। जो अपने आप में 'थियोरी ऑफ रिलेटीविटी' कहलाता है। वह भी एक ही पदार्थ में भिन्न धर्मों का, स्वभावों का अस्तित्व बताता है। आइन्स्टीन कहते हैं—"जिस पदार्थ को जैसा हम देखते हैं; वास्तव में वह कुछ और ही है। जिस रेखा को हम सरल कहते हैं; वह वास्तव में वक्र भी है। सरलता और वक्रता एक ही रेखा में अवस्थित है, जब कि सरलता और वक्रता नितान्त विरोधी धर्म हैं।"

तात्पर्य हुआ, जब प्रकृति जगत् में या पदार्थ-जगत् में दो विरोधी स्वभाव एक साथ टिकते हैं, तब चैतन्य-जगत् और मानव में दो विचार एक साथ क्यों नहीं टिक सकते ? समाज में एक दूसरे को ढकेलने की या मिटा देने की बात क्यों पैदा होती है ? एक ही देश में

रहने वाले लोग क्यों सोचते हैं कि बंगाल बंगालियों के लिये, आसाम असमियों के लिये और दक्षिण दाक्षिणात्यों के लिये है। केवल विचार तक ही यह स्थिति होती तो एक बात थी। आज तो देश में इन विचारो का क्रियान्वयन होने लगा है। सुदूर प्रान्तों में रहने वाले लोगों के मन में एक आतंक छा गया है। यह सब इस बात का प्रारम्भ है कि कभी जितने प्रान्त, उतने देश यहां बन जायें। भारत या हिन्दुस्तान जैसी कोई वस्तु यहां न रहे। भारतवासियों को और प्रशासकों को अभी से इस दिशा में गम्भीर ध्यान देना चाहिए।

सह अस्तित्व की बात स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उठाई थी। उसका एक व्यापक वातावरण बना। उस अभियान का नाम पंच शील था। उसकी पांच धाराएं निम्नोक्त थीं :

१. प्रत्येक राष्ट्र एक-दूसरे राष्ट्र की सार्वभौमिकता और प्रभु-सत्ता का सम्मान करेगा।

२. कोई राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

३. कोई देश दूसरे देश पर न तो आक्रमण करेगा और न उसकी सीमाओं का अतिक्रमण करेगा।

४. एक दूसरे के हित के लिए राष्ट्र पारस्परिक सहयोग के आधार पर काम करेंगे।

५. सभी राष्ट्र सह-अस्तित्व के सिद्धान्त का पालन करेंगे।

विश्व आज जिन परिस्थितियों में चल रहा है, वह सह-अस्तित्व के विचार पर ही जी सकता है। संहारक अस्त्रों के निर्माण की दौड़ है। सभी देश वैज्ञानिक उपलब्धियों में स्पर्धाशील हैं। आज

किन्हीं दो राष्ट्रों के युद्ध का अर्थ होता है विश्व-युद्ध । अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में पक्षापक्ष की प्रबलता है। एक विश्व युद्ध के क्रियान्वित हो जाने का अर्थ है, मानव संस्कृति एवं मानव-सभ्यता का सर्वनाश। सह-अस्तित्व की भावना का विकास ही मानव जाति का एक मात्र आलम्बन रह गया है।

प्रज्ञा-परीक्षण

१. सह-अस्तित्व शब्द भाव-विन्यास की दृष्टि से बहुत प्राचीन कैसे है ?

२. स्याद्वाद क्या है और वह व्यक्ति-व्यक्ति एवं पदार्थ-पदार्थ को कैसे अभिव्यक्त करता है।

३. प्रान्तीय भावनाओं के उभार से देश और समाज को क्या हानि है ?

४. पंच शील के विषय में क्या जानते हैं ?

५. वर्तमान युग में सह अस्तित्व विशेष महत्व का विषय क्यों है ?

हृदय-परिवर्तन का मार्ग

(प्रश्नोत्तरी)

प्रश्न—अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन आचार्य श्री तुलसी ने किया है। वे एक जैन आचार्य हैं। छः सौ से अधिक साधु-साध्वियां आन्दोलन को बढ़ाने में सक्रिय हैं। वे भी सम्प्रदायगत हैं। इस स्थिति में अणुव्रत आन्दोलन एक साम्प्रदायिक प्रवृत्ति ही नहीं ठहरती है क्या ?

उत्तर—प्रवृत्ति और प्रवर्तक न सर्वथा एक होते हैं। न सर्वथा भिन्न। अणुव्रत-आन्दोलन एक प्रवृत्ति है। आचार्य श्री तुलसी उसके प्रवर्तक हैं। आचार्य श्री तुलसी तेरापंथ सम्प्रदाय के अनुशास्ता हैं। इसका अर्थ यह नहीं है, तेरा-पंथ और अणुव्रत-आन्दोलन ये दोनों शब्द पर्यायवाची हो गये हैं। तेरापंथ सम्प्रदाय की अपनी आचार-संहिता है, अपनी मान्यताएं हैं, अपना संगठन है। अणुव्रत आन्दोलन की अपनी गतिविधि है, अपना विधि-विधान है। आचार्य श्री तुलसी दोनों का संचालन दो पृथक् सीमाओं में करते हैं। इस स्थिति में अणुव्रत आन्दोलन के साम्प्रदायिक बन जाने का कोई कारण नहीं है। एक डाक्टर होस्पिटल का भी संचालक है। किसी गौशाला का भी संचालक है। इसका अर्थ यह नहीं कि गौशाला भी होस्पिटल बन जाये।

तेरापंथ एक जैन सम्प्रदाय है। भारतवर्ष में अन्य भी विभिन्न सम्प्रदाय हैं। कुछ एक मान्यताओं से वे परस्पर

भिन्न हैं, परन्तु बहुत सारी समान मान्यताओं के आधार पर वे परस्पर एक भी हैं। सम्प्रदायों और धर्मों के बीच मान्यताओं की दृष्टि से समानता अधिक है, विषमता अल्प। अहिंसा, सत्य आदि पांच आधार सभी धर्मों में, सभी सम्प्रदायों में समान हैं। ये ही अणुव्रत-आंदोलन के मूल स्तम्भ हैं। इन्हीं पर अणुव्रत आचार-संहिता गढ़ी गई। आचार्य श्री तुलसी सम्प्रदाय विशेष के आचार्य होते हुए अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन करें, इससे अणुव्रत आन्दोलन साम्प्रदायिक प्रवृत्ति नहीं हो जाता। यही स्थिति छ सौ से अधिक साधु-साध्वियों के विषय में है। परम्परागत मान्यताएं उनकी व्यक्तिगत साधना का विषय है। अणुव्रत आन्दोलन के साथ उनका इतना ही सम्बन्ध है कि वे उसके विधि-विधान के अनुसार उसे आगे बढ़ायें। अन्य किसी सम्प्रदाय के आचार्य व साधु भी इस प्रवृत्ति को बल दें, आगे बढ़ायें व संचालित करें। इससे भी अणुव्रत आन्दोलन साम्प्रदायिक होने वाला नहीं है।

प्रश्न—बुराइयों के प्रतिकार के लिए सरकार ने कानून बना रखे हैं। आवश्यकतानुसार और भी कानून वह बनाती रहती है। अणुव्रत-आन्दोलन नैतिक सुधार की दिशा में क्या इस व्यवस्था को पर्याप्त नहीं मान लेता? नैतिक सुधार के लिए यदि कानून पर्याप्त नहीं है तो हृदय-परिवर्तन का प्रकार क्या पर्याप्त परिणाम ला सकता है?

उत्तर—समाज सर्वप्रथम अपनी मान्यताएं और मूल्य निर्धारित करता है। फिर वह उन्हें कानून का रूप देता है। कानून तोड़ने वाले के लिए दण्ड की व्यवस्था करता है। तात्पर्य हुआ, इस समग्र प्रक्रिया का मौलिक आधार जन-मानस

है। जन-मानस दूषित हुआ तो, न तो अच्छे कानून बन ही सकते हैं और न बने हुए कानूनों का पालन ही हो सकता है। व्यक्ति का मानस कानून से आतंकित हो सकता है, परिष्कृत नहीं। कानून नित नये बनते हैं। जन-मानस उन्हें स्वीकार नहीं करता और वे ज्यों-के-त्यों धरे ही रह जाते हैं। मिलावट, चोरबाजारी, झूठा तोल-माप, रिश्वत आदि के संबंध से कब से कानून बने पड़े हैं। कानून से सुधार हुआ होता तो ये बुराइयां प्रचलित होतीं ही कैसे? ये बुराइयां रुकी हुई होतीं तो अणुव्रत आन्दोलन की आवश्यकता ही नहीं होती। अणुव्रत आन्दोलन जन-मानस का परिष्कार चाहता है। वह हृदय-परिवर्तन का मार्ग है। समाज में किसी भी सुधार को क्रियान्वित करने में हृदय-परिवर्तन के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग ही नहीं है। बलात् किये गये सुधार पुनः असुधार में परिणत हो जाते हैं। हृदय-परिवर्तन का आधार है—विचार-दान। प्रश्न हो सकता है, हृदय-परिवर्तन कितने लोगों का किया जा सकता है और कब तक किया जा सकता है? अस्तु, हृदय-परिवर्तन की गति मन्द हो सकती है, पर तीव्रता से हृदय-परिवर्तन का कोई उपाय भी तो नहीं दीख रहा है। विज्ञान ने भी तो अब तक कोई ऐसा मार्ग नहीं खोज निकाला है कि एक 'स्वीच' दबाया और एक सहस्र लोगों के दिल बदल गये। हृदय-परिवर्तन और विचार-परिवर्तन का मार्ग सामान्य दृष्टि में श्लथ भले ही लगे, पर संसार का इतिहास बताता है; बड़े-से-बड़े सुधार और बड़े-से-बड़े परिवर्तनों के नीचे हृदय-परिवर्तन ही आधार रहा है।

प्रश्न—अनैतिकताओं के कारण और उनके निवारण के विषय में अणुव्रत-आन्दोलन का मूलभूत दृष्टिकोण क्या है?

त्तर—अनैतिकताओं के नीचे कोई एक ही मूलभूत कारण नहीं है। विविध अनैतिकताओं के विविध कारण हैं। उन कारणों को सामान्यतया हम दो भागों में बांट सकते हैं। वे दो भाग हैं—विवशता और महत्वाकांक्षा। आज की आर्थिक व सामाजिक व्यवस्थाओं में अनेक लोगों को विवशतापूर्वक अनैतिक हो जाना पड़ता है। जीवन अर्थकेन्द्रित हो रहा है। जीवन की आवश्यकताएं बढ़ रही हैं। भोजन, वस्त्र, स्थान, शिक्षा, चिकित्सा आदि जीवन के अनिवार्य अंग हैं। सामान्य विधि से जब मनुष्य इन अपेक्षाओं को पूर्ण नहीं कर पाता, तब असामान्य उपाय अपनाने को उसे विवश होना पड़ता है। इस विवशता को मिटाने के लिए सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन की आवश्यकता है।

बहुत सारे लोग ऐसे हैं, जो उक्त अनिवार्य अपेक्षाओं से पीड़ित नहीं हैं। समृद्ध हैं। वे भी अनैतिकताएं करते हैं। सौ रुपये की तनख्वाह वाला चपरासी भी रिश्वत लेता है और पाँच हजार की तनख्वाह वाला आफिसर भी। आटा, तेल, नमक की दूकान करने वाला भी अप्रामाणिकताएं करता है और लाखों-करोड़ों का व्यापार करने वाले व्यापारी भी अप्रामाणिकताएं करते हैं। इन बड़े लोगों की अनैतिकताएं विवशता का विषय नहीं, महत्वाकांक्षा का विषय हैं। महत्वाकांक्षा के रोग से अधिकांश लोग पीड़ित होते हैं। महत्वाकांक्षाएं धन के लिए होती हैं, पद के लिये होती है और अधिकार के लिए होती हैं। महत्वाकांक्षा की पूर्ति के नैतिक और अनैतिक दोनों ही प्रकार हो सकते हैं। पर वर्तमान में अधिकांश लोग नैतिकता और अनैतिकता

का भेद भूल कर अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति में लगे हैं। महत्वाकांक्षा का निरोध व्यक्ति अपने अन्तर्विवेक से ही कर सकता है। अणुव्रत आन्दोलन अन्तर्विवेक जगाने का कार्य कर रहा है।

प्रज्ञा-परीक्षण

१. आचार्य श्री तुलसी तेरापंथ धर्म–संघ के संचालक और अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तक हैं। इस स्थिति में अणुव्रत-आन्दोलन एक साम्प्रदायिक प्रवृत्ति ही क्यों नहीं ठहर जाता ?

२. कानून की सफलता का आधार क्या है ? बहुत सारे बने हुए कानून बुराइयों को रोकने में क्यों असमर्थ हैं ?

३. सुधार का एक मार्ग हृदय-परिवर्तन ही क्यों रह जाता है ?

४. अनैतिकता के कारण और उनके निवारण के विषय में आप क्या कह सकते हैं ? क्या विवशता ही अनैतिकताओं का एक मात्र कारण नहीं है ?

५. अनैतिकताओं का मौलिक कारण विवशता के अतिरिक्त भी कोई है तो वह क्या है ?

: ११ :

सत्य की कसौटी पर

(एक पौराणिक आख्यान)

एक चोर अकस्मात् किसी साधु के पास जा बैठा। साधु ने सहज भाव से सद्गुणों के ग्रहण और असद्गुणों के परिहार की चर्चा की। चोर ने साधु की सब बातें सुनी और चुप रहा। साधु ने कहा-"इतना उपदेश सुना है, कोई एक व्रत तो लो।" चोर ने कहा—"मैं जन्मजात चोर हूँ। चोरी मैं नहीं छोड़ सकता। अन्य कोई भी व्रत आप चाहें, वह मैं ले सकता हूं।" साधु ने कहा—"सत्य का व्रत ले लो। असत्य मात्र का परित्याग कर दो।" चोर साधु के प्रति श्रद्धावनत था। उसने तथारूप सत्य का व्रत ले लिया।

वह चोर बहुत प्रसिद्ध था। नगर में बड़ी-बड़ी चोरियां वह आये दिन करता, पर कभी पकड़ में नहीं आया। नगर के लोग सदैव सशंक और भयभीत रहते थे। राजाज्ञा से अनेक राजकीय कर्मकरों ने चोर को पकड़ने का प्रयत्न किया, पर वे विफल रहे। राजा को चिन्ता हुई। राजा स्वयं वेष बदल कर रात को नगर में घूमने लगा। जिस दिन चोर ने व्रत लिया था, उसी दिन रात को चोरी करने के लिए वह नगर में आया। नगर की अन्धेरी गलियों में राजा और चोर का आमना-सामना हो गया। राजा बोला—"तुम कौन हो?" चोर उल्टा-सीधा जवाब देने के लिए ज्यों ही उद्यत हुआ, उसे अपने व्रत की याद आई। एक क्षण रुक कर बोला—"मैं चोर हूँ।" राजा ने मन में सोचा, चोर तो कभी कहता नहीं कि मैं चोर हूँ। राजा

कौतुक में पड़ा। चोर ने राजा से पूछा—"तुम कौन हो ?" राजा ने उत्तर दिया—"मैं भी चोर हूं।" राजा के मन में था—देखें, यह कौन है और क्या करता है ? चोर से राजा ने कहा—"चलो, हम दोनों एक साथ चोरी करें। जो माल मिलेगा, आधा-आधा कर लेंगे।" चोर ने यह सब स्वीकार किया। दोनों साथ-साथ चल पड़े। राजा के महलों में ही चोरी करने के लिए घुसे। चोर ने राजा को एक ओर खड़ा कर दिया। स्वयं खज़ाने की ओर गया। एक रत्न-मंजूषा हाथ लगी। उसमें तीन बहुमूल्य रत्न थे। चोर ने दो रत्न चुराये। यह सोचकर कि तीन का बटवारा कठिन होगा। चोरी करके वह राजा के पास आया। राजा को बताया—"दो रत्न हैं। एक तुम ले लो, एक मैं रख लेता हूँ।" राजा ने वैसा ही किया। राजा चोर की सत्यवादिता पर विस्मित था। राजा ने उसका नाम-ठाम व पता पूछा। वह भी उसने सच-सच बता दिया। राजा और चोर दोनों पृथक्-पृथक् रास्तों से चल पड़े।

प्रातःकाल राजा राज-सभा में बैठा। रात की घटना का कौतुक उसके मन में उभर रहा था। राजा ने अपने दीवान से कहा—"पिछले दिनों जो तीन बहुमूल्य रत्न खरीदे थे, वे कहां हैं ?" दीवान ने कहा—"राज-खजाने में ही तो वे रखे गये थे।" राजा ने कहा—"एक वार तीनों रत्नों को मेरे सामने ले आओ।" दीवान गया। खजाना सम्भाला। रत्नों की पेटी सम्भाली तो उसमें केवल एक रत्न पाया। दीवान के मन में आया, चोरी तो हो ही गई है, जैसी दो की, वैसी तीन की। एक रत्न मैं भी अपनी जेब में क्यों न डाल लूं ? दीवान खाली मंजूषा लेकर राज-सभा में आया। राजा को बताया—रत्न चोरी चले गए हैं। यह रत्न-मंजूषा खाली पड़ी है। राजा का कौतुक फिर बढ़ा। चोर कहता था—मैंने दो रत्न चुराये हैं। तीनों रत्न यहां से गायब हैं। सच बोलने वाले चोर ने ही क्या भूठ

बोला है ? राजा ने सिपाहियों को बुलाया और कहा—'अमुक नाम का व्यक्ति अमुक स्थान में रहता है, उसे लेकर यहां आओ।" सिपाही गये ! अमुक स्थान में अमुक नाम का व्यक्ति उन्हें मिल गया। सिपाहियों ने उसे राज-सभा में चलने के लिए कहा। चोर ने सोचा, आज मुझे मरना होगा। गत रात को मैंने सच कह दिया था। उसी के परिणाम स्वरूप यह राज-सभा का बुलावा लगता है। मुझे मरना बेशक पड़े, पर मैं अपने सत्य के व्रत को नहीं तोड़ूंगा। चोर ने अपने हिस्से का एक रत्न अपनी जेब में डाल लिया और राज-सभा में आ गया। राजा के साथ उसके प्रश्नोत्तर होने लगे।

"तुम कौन हो ? क्या करते हो ?"

"मैं अमुक स्थान में रहता हूँ। अमुक मेरा नाम है। मैं चोरी किया करता हूँ।'

"कल रात को भी तुमने चोरी की है ?''

"जी !"

"कहाँ चोरी की और क्या चुराया ?"

"राज-महलों में चोरी की और दो रत्न चुराये।"

"वे रत्न कहां हैं ?"

चोर ने अपनी जेब से निकाल कर एक रत्न राजा के सामने रख दिया।

"दूसरा रत्न कहां है ?"

"एक अन्य चोर मेरा भागीदार था। दूसरा रत्न उसे दे दिया गया है।"

राजा के मन में आया, इसकी बातें तो सच हैं, तो यह भी सच है कि इसने दो ही रत्न चुराये हैं। राजा ने अपनी जेब से दूसरा

रत्न निकाला और अपनी हथेली में रख कर चोर के सामने करते हुए कहा—"यही है, वह दूसरा रत्न ?" चोर ने कहा—"जी"! चोर समझ गया, गत रात का मेरा साथी चोर यह राजा ही था। राजा को अब पूरी तरह से भरोसा हो गया कि तीसरा रत्न मेरे दीवान ने ही चुराया है।

राजा ने अपनी हथेली के दो रत्न दीवान के सामने किये और कहा—"दीवान ! एक रत्न इस चोर ने यहां रख दिया है। एक रत्न मैंने स्वयं रख दिया है। तीसरा रत्न अब तुम अपनी जेब से निकाल कर रख दो। दीवान घबरा उठा। उसकी समझ में नहीं आया कि यह क्या तमाशा है। उसकी समझ में तो यही आया कि राजा को तीनों रत्नों का पूरा-पूरा पता है। अब असत्य बोलने से क्या फायदा ? दीवान ने तत्काल अपनी जेब से रत्न निकाला और राजा की हथेली में रख दिया।

सारे सभासद् इस नाटकीय अभिव्यंजना से विस्मित हो रहे थे। उनकी जिज्ञासाएं उभर रही थीं। राजा ने सारा घटनावृत्त सभासदों को सुनाया। साथ-साथ यह भी कहा—"इसने दीवान होकर भी चोरी की, इसलिए मैं इसे सदा के लिये अपदस्थ करता हूँ। इस चोर ने अपने प्राणों की परवाह न करके भी सब कुछ सच-सच कहा है; इसलिए मैं इसे दीवान के पद पर आसीन करता हूँ।"

चोर ने राजा और सभासदों के समक्ष अपने व्रत-ग्रहण को घटना बताई और कहा—मैंने सत्य का व्रत ग्रहण किया। उसका फल मुझे इस रूप में मिल रहा है; अतः आज से मैं अचौर्य का व्रत भी ग्रहण करता हूँ। मैं उस साधु पुरुष को श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ, जिसके कारण मेरे जीवन में यह परिवर्तन आया।"

कथा का सार है—"सद्गुण कभी निष्फल नहीं होते।"

प्रज्ञा–परीक्षण

१. साधु ने चोर को सत्य का व्रत क्या समझ कर दिलाया था ?

२. चोर ने अपने आपको क्यों कह डाला कि मैं चोर हूं ? ऐसा करते समय उसके मन में कौनसी प्रेरणा काम कर रही थी ?

३. तीन रत्नों के होते चोर ने दो ही रत्न क्यों चुराये ?

४. दीवान ने एक रत्न अपनी जेब में क्यों डाल लिया ?

५. राजा ने दीवान को अपदस्थ किया और चोर को पदस्थ किया, आपकी दृष्टि में क्या यह उचित था ?

: १२ :

प्रामाणिकता के पथ पर

एक रात को खलीफा हजरत अली सरकारी फाइलों का काम निपटा रहे थे। कुछ मित्र गैर-सरकारी काम से उनसे मिलने आये। हजरत अली ने जलते चिराग को बुझा दिया और पास पड़े दूसरे चिराग को जला दिया। आगन्तुक मित्रों से वार्तालाप करने लगे। वार्तालाप कर जब मित्र लोग उठने लगे, तो उन्होंने दूसरे चिराग को बुझा दिया और पहले चिराग को पुनः जला दिया। सरकारी कागजात देखने लगे। यह सब कौतुक देखकर मित्रों ने इसका कारण पूछ लिया। खलीफा हजरत अली ने कहा—'व्यक्तिगत काम में मैं सरकारी तेल कैसे जलाता ?"

प्रामाणिकता का यह एक सुन्दर उदाहरण है। सामान्य दृष्टि में यह प्रामाणिकता का अति रूप लगता है। पर समाज में कुछ लोग आदर्श की पराकाष्ठा पर चलते हैं, तब सर्वसाधारण उसका मध्यम रूप अपना लेते हैं। आज के सामाजिक जीवन में सबसे बड़ी आवश्यकता प्रामाणिकता की लगती है, पर उसमें आज सबसे अधिक बोलबाला अप्रामाणिकता का ही हो रहा है। लोग अप्रमाणिकता को ही अपनी सफलता का आधार मान बैठे हैं। यह धारणा बहुत ही प्रचलित हो रही है कि प्रामाणिक रह कर व्यक्ति सामाजिक जीवन नहीं जी सकता। अप्रामाणिकता का विस्तार जितना भयावह है; उससे भी अधिक भयावह प्रामाणिकता

की निष्ठा का गिर जाना है। समाज में अच्छाइयां और बुराइयां सदा से रही हैं। जिस युग में राम था, उसी युग में रावण था। जिस युग में पाण्डव थे, उसी युग में कौरव थे। इस युग में और उस युग में अन्तर यही है कि उस युग में बुराइयां थीं, किन्तु बुराइयों को सामाजिक मान्यता नहीं थीं। वर्तमान युग में बुराइयां भी पनप रही हैं और उनको सामाजिक मान्यता भी दी जा रही है। व्यापारी कहते हैं-मिलावट, झूठा तोल माप, चोर-बाजारी आदि सभी व्यापारी करते हैं और किये विना काम भी नही चलता; अतः यह कोई बुरी बात नहीं है। राज-कर्मचारी कहते हैं—रिश्वत सभी लेते हैं और लिए बिना काम भी नहीं चलता, अतः यह कोई बुरी बात नहीं है। इस मान्यता के कारण ही बुराइयां समाज में जड़ पकड़ती जा रही हैं। प्राचीन काल में बुराइयां होती थीं, पर समाज उन्हें क्षम्य नहीं मानता था। एक बुराई की ओर सहस्त्रों अंगुलियां उठती थीं। यही कारण था, बुराइयां अच्छाइयों पर हावी नहीं हो पा रही थीं। अच्छा वने रहना सामाजिक जीवन का मानदण्ड था। बुरे लोगों को भी सामाजिक जीवन जीने के लिए अच्छा बनना पड़ता था। आज भी बुराइयों के अन्त का कोई मार्ग है तो यही कि समाज में नैतिक निष्ठा बनी रहे। अनैतिकता के प्रति विद्रोह होता रहे। भले और बुरे का भेद समाज समझता रहे। भलाई को वह आदर देता रहे और बुराई को निरादर।

अप्रामाणिकता से व्यक्ति लाभान्वित होता है, यह धारणा बुरी तो है ही, साथ-साथ अयथार्थ भी। व्यापार में अप्रामाणिकता चलाने वाला व्यक्ति अन्ततोगत्वा व्यावसायिक दृष्टि से भी असफल होता है। प्रामाणिकता पर चलने वाला व्यक्ति पहले-पहले भले ही कुछ कठिनाइयां उठाये, पर धीरे-धीरे उसकी साख जमती है और व्यापार बढ़ता है। यही हाल राज-कर्मचारो का है। कुल

मिलाकर वही कर्मचारी जीवन में अधिक सफलताएं अर्जित करता है, जो प्रामाणिकता में विश्वास रखकर चलता है। प्रामाणिकता सफलता के लिए ही नहीं, वह तो मानवता के लिए है। सामाजिक जीवन में असफल रह कर भी प्रामाणिकता के पथ पर चलता रहे, वह महान् है।

प्रश्न होता है, प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता कहते किसे हैं ? अनैतिकता और अप्रामाणिकता को हम पर्यायवाची भी मानें तो अयथार्थ नहीं होगा। प्रामाणिकता वह है, जो सामाजिक व सांवैधानिक दृष्टि से सम्मत हो। नैतिकता की भी यही परिभाषा हो सकती है। इससे जो भिन्न है, वह अनैतिक और अप्रामाणिक कहा जा सकता है। अनैतिकता वंचना-रहित भी हो सकती है। अप्रामाणिकता में वह बहुधा रहती है। व्यापारी मिलावट करता है, नकली को असली बताता है, एक प्रकार की वस्तु दिखाकर दूसरे प्रकार की वस्तु देता है, तोलमाप में कम ज्यादा करता है; इन सब कामों में वंचना है, धोखा है। ये अप्रामाणिकता के ज्वलन्त उदाहरण हैं। नौकर ५० पैसे की वस्तु लाकर मालिक को ६० पैसे की बताता है; नागरिक बिना टिकिट रेल आदि से यात्रा करता है; श्रमिक समय की चोरी करता है; विद्यार्थी नकल करता है; ये सभी अप्रामाणिकता के उदाहरण हैं। अप्रामाणिकता का सम्बन्ध केवल प्रवृत्ति से ही नहीं, भावना से भी है। रेल रवाना हो रही है, टिकिट लेने का समय नहीं रहा। आप रेल में बैठ गये। आपकी भावना पैसे बचाने की नहीं है, तो वह अप्रामाणिकता नहीं कही जा सकती। प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता का सम्बन्ध प्रत्येक व्यक्ति के प्रत्येक कार्य से रहता है। अप्रामाणिकताएं कुछ स्व-संवेद्य होती हैं, कुछ पर-संवेद्य। व्यक्ति अपने जागृत विवेक से स्वयं को टटोलता रहे और दोनों ही प्रकार की अप्रामाणिकताओं का परिहार करता रहे यह अपेक्षा है।

प्रज्ञा-परीक्षण

१. खलीफा हज़रत अली ने प्रामाणिकता का क्या परिचय दिया ? आप अपने शब्दों में व्यक्त करें ।

२. सामाजिक जीवन में सबसे बड़ी आवश्यकता किस बात की है ?

३. अप्रामाणिकता से भी अधिक भयावह बात क्या है ?

४. प्राचीन काल की और वर्तमान काल की धारणाओं में प्रामाणिकता-सम्बन्धी निष्ठा में क्या अन्तर आया है ?

५. प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता की परिभाषा क्या है ?

: १३ :

आचार और विचार तुला पर

गांधीजी जब विलायत में रहा करते थे; एक पादरी से उनकी मित्रता हो गई। मित्रता का मूल आधार था—धार्मिक विचार-विनिमय। पादरी के मन में कुछ साम्प्रदायिक लोभ जगा। सोचा, गांधीजी को किसी प्रकार ईसाई धर्म में दीक्षित कर लिया जाये तो बहुत अच्छा हो। उसने गांधी जी के साथ और मित्रता बढ़ानी शुरू कर दी। गांधीजी से उसने कहा—"प्रत्येक रविवार को आप मेरे यहां खाना खाया करें। इससे हमें धार्मिक विचार-विनिमय का मुक्त अवसर मिलता रहेगा।" गाँधीजी ने निमंत्रण स्वीकार कर लिया। रविवार का दिन आया। पादरी ने गांधीजी के लिए निरामिष भोजन की व्यवस्था की। पादरी के बच्चों ने अपने पिता से प्रश्न किया—"आज यह सब क्या हो रहा है?"

पादरी बोला—"आज मेरा मित्र गांधी भोजन के लिए आमंत्रित है। वह मांस नहीं खाता है; इसलिए शाकाहारी भोजन की व्यवस्था की जा रही है।"

बच्चे बोले—"गांधी मांस क्यों नहीं खाता?"

पादरी बोला—"वह कहता है, जैसे हम सब में प्राण हैं, वैसे ही प्राण पशु-पक्षियों में हैं। हमें कोई मारकर, पकाकर खाये तो हमें कैसा लगेगा?"

बच्चे बोले—"यह तो बहुत अच्छी बात है। हम फिर मांस क्यों खाते हैं ?"

पादरी बोला—"यह तो उसके धर्म की बात है। हमारे धर्म की बात और है।"

बच्चे बोले—"अच्छी बात तो किसी भी धर्म की हो, हमें अपनानी चाहिए।"

गांधीजी आये। भोजन किया। आध्यात्मिक चर्चाएं हुईं। पादरी का रुख था कि मैं अपने विचारों का प्रभाव गाँधी पर डालूं और वह ईसाई बन जाये। गांधीजी सब चर्चाएं सहज भाव से ही करते थे। उनके मन में न ईसाई बनने का आकर्षण था और न पादरी को हिन्दू बनाने का।

एक के बाद एक रविवार आते गये। प्रति रविवार को गांधीजी आते और पादरी के घर निरामिष भोजन बनता। बच्चों पर गांधीजी के इस आचार का प्रभाव पड़ा। वे भी अपने माता-पिता से कहने लगे—"हमें तो गांधी का धर्म अच्छा लगता है। हम मांसाहार कहीं करेंगे। गांधी के धर्म की और भी बातें हम उससे पूछेंगे और उन्हें अपनायेंगे। पादरी के पैरों के नीचे से मानो धरती खिसक गई हो। उसे लगा; गांधी तो ईसाई बनेगा या नहीं, मेरे बच्चे तो अवश्य हिन्दू बन जायेंगे। मैं गांधी को अपने विचारों से प्रभावित करने का प्रयत्न कर रहा था, पर गांधी के आचार का प्रभाव अनायास ही मेरे बच्चों पर पड़ रहा है।

पादरी ने उस रविवार का भोजन गांधीजी को कराया। जब गांधीजी भोजन करके चलने लगे तो पादरी ने कहा—"आज से मेरा निमंत्रण मैं वापस करता हूं!" गांधीजी ने स्मित मुद्रा से पादरी की

ओर देखा पादरी ने झुंझलाते हुए कहा—"मैं तो आपको ईसाई बनाने के लिए आपसे दोस्ती कर रहा था। आपने तो मेरे घर पर ही हमला बोल दिया।"

यह एक घटना-प्रसंग है, जो इस बात की ओर संकेत करता है कि विचार से भी अधिक प्रभाव आचार का पड़ता है। अध्यापक विद्यार्थियों को सिखलाता है—असत्य बोलना अच्छा नहीं है। धूम्र-पान अच्छा नहीं है, अनियमित जीवन अच्छा नहीं है। अध्यापक के जीवन में यदि उक्त दोषों का अभाव नहीं होगा तो पढ़ाया गया पुस्तक का पाठ और दिया गया उपदेश व्यर्थ ही होगा। अध्यापक के जीवन में नियमितता है, अध्यापक धूम्र-पान नहीं करता है, अध्यापक असत्य नहीं बोलता है तो भले ही ये बातें विद्यार्थियों को न पढ़ाई जायें; विद्यार्थी इन बातों का अनुसरण करेंगे। विद्यार्थी जो पुस्तक से नहीं पढ़ता, वह अध्यापक के जीवन से पढ़ता है। अध्यापक का जीवन ही विद्यार्थी के पाठ्यक्रम की सर्वोत्तम पुस्तक है।

सन्तान के चरित्र के विषय में वही स्थिति माता-पिता की है। कुछ ही माता-पिता अपने इस दायित्व को समझ कर चलते हैं। पारिवारिक जीवन में पारस्परिक झगड़े होते हैं। छलनाएं होती हैं। असत्य बोला जाता है। बच्चे वहीं से ये सारी बातें सीखते हैं। पिता धूम्र-पान करता है तो बच्चों में वह आदत क्यों नहीं आयेगी? अपेक्षा तो यह है, परिवार स्वयं में एक साधना शिविर हो। वहां रहने वाले प्रत्येक सदस्य को वहां से स्वस्थ आचरण सीखने को मिले।

सामाजिक कार्यकर्ता और नेता सर्वसाधारण के अगुआ होकर चलते हैं। बड़ी-बड़ी सभाओं में सम्भाषण करते हैं। बातें भी वे आदर्श की ही कहते हैं, किन्तु समाज पर असर उन्हीं कार्यकर्ताओं और

नेताओं का होता है, जिनके जीवन में वे आदर्श विद्यमान होते हैं।

प्रत्येक सामाजिक व्यक्ति को यह मानकर चलना चाहिए कि मेरे असद् आचार से मेरा व्यक्तिगत जीवन ही प्रभावित नहीं होता, मेरे आस-पास का वातावरण भी प्रभावित होता है। मैं अनैतिक आचरण करके अपना भी बुरा करता हूं और समाज का भी। इसी प्रकार नैतिक आचरण के द्वारा मैं अपना भी भला करता हूँ और समाज का भी। प्रत्येक नागरिक का जीवन एक ऐसा नैतिक सन्दीप हो, जो अपनी ज्योति से दूसरे दीपों को जलाता ही चले।

प्रश्न–परीक्षण

१, गांधीजी ने पादरी के बच्चों को उपदेश भी नहीं दिया, फिर भी वे उनके प्रति प्रभावित कैसे हो गये ?

२. पादरी गांधीजी को ईसाई बनाना चाहता था, पर अन्त में उसने कैसे हार मानी ?

३. विद्यार्थी के पाठ्यक्रम की सर्वोत्तम पुस्तक कौनसी है ?

४. पारिवारिक जीवन कैसा होना चाहिये ?

५. कौनसे सामाजिक कार्यकर्ता या नेता का समाज पर प्रभाव अधिक पड़ता है।

। १४ ।

मद्यः उत्पत्ति और परिणति

सन् १७८६ की बात है। रूस की रानी कैथरिना के कहने से मुख्यमन्त्री शहजादे वाटुसकिन ने किसानों को एक बृहद् राजभोज दिया। उस अवसर पर किसानों को मनमानी शराब पिलाई गई। मादकता में बेभान किसान रात को इधर-उधर खेतों में पड़े रहे। उस रात शीत इतना कड़ाके का पड़ा कि प्रातःकाल होने तक सोलह हजार किसान मौत की गोद में सोये ही रह गये।

यह शीत पदेश का एक घटना-प्रसंग है, जहां मद्य-पान को जलवायु के अनुकूल माना जाता है। भारत जैसे उष्ण प्रदेश में वह कितना हानिकारक हो सकता है, यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है। भारतीय जलवायु के अनुकूल तो मद्य-पान है ही नहीं; पर वह भारतीय संस्कृति और भारतीय सभ्यता के भी अनुकूल नहीं है। वैदिक, बौद्ध, जैन आदि सभी परम्पराओं में मद्य-पान की वर्जना है। बुद्ध ने पंच शील में मद्य-निषेध की पंचम शील के रूप में स्थापना की। जातक कथा में बतलाया गया है; एक बार सुरा महोत्सव पर पांच सौ स्त्रियों ने सुरा-पान किया। विशाखा ने सुरा नहीं पी। उन पांच सौ स्त्रियों ने बुद्ध की धर्म-सभा में आकर बहुत ही अभद्रता का प्रदर्शन आरम्भ कर दिया। बुद्ध ने और कोई चारा न देख कर अपने योग-बल से उनका मद उतारा और उनकी अशीलता का निवारण किया।

मद्य-पान से मनुष्य उचित और अनुचित के विवेक को भूल जाता है और सभ्य लोगों में अपनी गर्हा का परिचय देता है। जैन परम्परा मद्य-पान को सप्त कुव्यसनों में एक प्रमुख कुव्यसन मानती है। सामाजिक संगठनों के द्वारा भी मद्य-पान वर्जित किया जाता रहा है। मद्य पीने वाले ब्राह्मण को पंचायत के द्वारा गर्म शीशे का घोल पिलाया जाता था, ऐसा उल्लेख कथा-ग्रन्थों में मिलता है। मुस्लिम धर्म में भी मद्य-पान का दृढ़ता से निषेध किया गया है।

वर्तमान युग बुद्धि और तर्क का है। धर्मशास्त्रों में मद्य-पान वर्जित हैं; यही आधार इस युग में परिपूर्ण नहीं होता। मद्य की उत्पत्ति, स्थिति और उसके द्वारा स्वास्थ्य पर पड़ने वाले कुप्रभावों का विवेचन भी इस दिशा में आवश्यक हो जाता है। मद्य चाहे वह ब्राण्डी हो, व्हिस्की हो, बीयर हो तथा शराब हो, स्वास्थ्य विज्ञान की दृष्टि से एक प्रकार का विष ही है। शरीर के लिए वह सर्वथा विजातीय तत्त्व है। साधारणतया लोग यह समझते हैं, मद्य-शक्ति-वर्धक पेय है और इसके पीने से तत्काल चहरे पर लाली आ जाती है। स्थिति यह है कि इस विजातीय तत्त्व के शरीर में जाते ही शरीर के कोषाणु संघर्षशील हो जाते हैं। हृदय द्रुतगति से रक्त फैंकने लगता है। शरीर के अन्तर्द्वन्द्व से उद्भूत लाली ही चेहरे पर प्रकट होती है। संघर्षशील शरीर मद्य पर विजय पाकर श्लथ हो जाता है। उस श्लथता को दूर करने के लिए व्यक्ति पुनः मद्य पीता है। यह क्रम चलता हो रहता है और संघर्षशील शरीर क्रमशः अपनी शक्ति खोता जाता है। मद्य उस पर हावी होता रहता है। अज्ञान मूलक इसी प्रक्रिया में व्यक्ति अपना अन्त कर लेता है। मद्य पीने वाला अपने शरीर में कितना विष डालता है, इस बात का अनुमान इससे लग सकता है कि एक औंस अल्कोहल (शराब) यदि एक स्वस्थ कुत्ते को खाली पेट पिलादी जाये तो वह तत्काल मर जाता है।

फलों के सड़े हुए रस को शराब तथा अनाजों के सड़े हुए रस को बीयर कहते हैं। यदि फलों के सड़े हुए रस को उबाल कर उस की भाप को राशिभूत करके शीतल कर लिया जाये तो वह ब्राण्डी बन जाती है। अनाज के सड़े हुए रस की इसी प्रक्रिया से व्हिस्की बन जाती है। ये सारी प्रक्रियायें पदार्थ को स्वाभाविकता से अस्वाभाविकता की ओर ले जाने वाली हैं और इसीलिए शरीर के लिए विजातीय हैं।

मद्य संसार में बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है और कुछ लोग आर्यों के सोम रस से भी इसकी तुलना कर देते हैं। पर इतने मात्र से वह समाज के लिए उपादेय है, ऐसा नहीं हो जाता। जो पदार्थ प्रत्यक्ष रूप से समाज के लिए हानिकारक है, वह चाहे, प्राचीन काल की देन हो अथवा अर्वाचीन काल की, त्याज्य ही है।

प्रशासनिक आधार पर मद्य-पान देश में निषिद्ध हो, यह बात अंग्रेजों के शासन-काल में भारतवासियों द्वारा उठाई गई थी। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् स्वयं भारतीय शासक भी मद्य-पान कानूनी रूप से बन्द नहीं कर पा रहे हैं। मद्य से सम्बन्धित आय इस कार्य में प्रमुख बाधा बन रही है। हो सकता है, किसी भी प्रमुख आय को यकायक बन्द कर देना और प्रशासन को ज्यों-का-त्यों चलाना कठिन होता है। पर किसी भी बुराई को समाज से मिटाने में इस प्रकार की कठिनाइयां तो सामने रहा ही करती हैं। कोई भी सुधार बलिदान लेकर ही आता है। मंजिल निर्धारित हो जाती है तो रास्ते अनेक बन ही जाते हैं।

प्रज्ञा—परीक्षण

१. रूस के राज-भोज में मद्य-पान से क्या हानि हुई ? उस घटना-प्रसंग के विषय में आप क्या जानते हैं ?

२. शरीर-विज्ञान की दृष्टि से मद्य-पान कैसे हानिकारक है, विवेचन करें।

३. मद्य शरीर के लिए विजातीय क्यों है ?

४. मद्य-निषेध और कानून, इस विषय में आपकी स्वतंत्र दृष्टि क्या है ?

: १५ :

युग की सन्धि पर

(प्रश्नोत्तरी)

प्रश्न—जब कि जीवन के प्राचीन मूल्य ढहते जा रहे हैं और नवीन मूल्य स्थानापन्न हो रहे हैं, इस स्थिति में नारी-समाज को कौनसी दिशा पकड़नी चाहिए ?

उत्तर—यह सच है कि जीवन एक नई करवट ले रहा है। प्राचीन और अर्वाचीन; ये दो धारायें बनती जा रही हैं। नारी-समाज के लिए यह प्रश्न महत्व का है कि वह प्राचीन परम्परा का अनुसरण करती रहे या अर्वाचीन-परम्परा का। वस्तुस्थिति यह है, प्राचीनता या अर्वाचीनता यथार्थता का मानदण्ड नहीं हुआ करती। प्राचीन भी बहुत कुछ अश्रेष्ठ होता है, अर्वाचीन भी। प्राचीन भी बहुत श्रेष्ठ होता है, अर्वाचीन भी। जीवन में उपादेय वह होता है, जो वस्तुतः यथार्थ होता है। नारी-समाज के लिए हितकर है-वह प्राचीनता और अर्वाचीनता से श्रेष्ठ का ग्रहण कर एक नवीन जीवन-दर्शन बनाये।

संस्कृति के नाम पर बहुत कुछ विकृति भी समाज में पल रही है। प्रगति के नाम पर बहुत कुछ अन्धानुकरण

समाज में चल रहा है। नारी-समाज को अन्ध विश्वासों से ऊपर उठना है और अन्धानुकरण से बचना है।

प्रश्न—शताब्दियों और सहस्राब्दियों से मनुष्य दर्शन को अपना केन्द्र मान कर चलता रहा है। वर्तमान युग में दर्शन का स्थान विज्ञान ले रहा है। मनुष्य अपने जीवन की परिभाषाएं विज्ञान की कसौटी पर कस कर चलना चाहता है। दर्शन और विज्ञान; इन दोनों की क्या संगति हो सकती है ?

उत्तर—दर्शन आत्मा की बात करता है और विज्ञान अणु की। दर्शन परमात्मा की बात करता है और विज्ञान परमाणु की। दर्शन और विज्ञान; इन दोनों में यह महान् भेद है। इस आधार पर वे जीवन की परिभाषाएं भी भिन्न-भिन्न दे रहे हैं। दर्शन आत्म-संयम और इन्द्रिय-दमन की बात कहता है। विज्ञान का अभिमत है—अभाव ही दुःख का कारण है। जीवन के साधन-प्रसाधन बढ़ते जायेंगे, दुःख घटता जायेगा।

जीवन की इन दो परिभाषाओं में कौनसी यथार्थ है, इसके लिए अब विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं रह गई है। दोनों परिभाषाओं के फलित हमारे सामने आ गये हैं। दर्शन के फलित हैं—अहिंसा, मैत्री, आत्मौपम्य-बुद्धि। विज्ञान के फलित हैं—अणुवम, उद्जनबम। विज्ञान मनुष्य को भौतिक तृप्ति देता है। मनुष्य आध्यात्मिक तृप्ति भी चाहता है। आज विश्व के शीर्षस्थ वैज्ञानिक भी इस बात का अनुभव करने लगे हैं—शांति और विश्व-बन्धुता के लिए हमें दर्शन के युग में लौटना होगा। भौतिक साधनों की दृष्टि से मनुष्य के लिए विज्ञान की उपयोगिता है। दर्शन का संगम उसके साथ हो जाता है तो दर्शन और विज्ञान पर आधारित एक नवीन-जीवन-व्यवस्था आविर्भूत हो जाती है। वह जीवन-व्यवस्था

अतिभोग और अतित्याग के बीच की सरणि होती है। वह व्यवहार्य होती है और सामाजिक होती है। यह दर्शन और विज्ञान की संगति है।

प्रश्न—प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति और वर्तमान शिक्षा-पद्धति में उपयोगिता की दृष्टि से मौलिक अन्तर क्या है और दोनों में कैसे संगति बिठाई जा सकती है ?

उत्तर—भारतवर्ष की अपनी एक स्वतंत्र संस्कृति और परम्परा है। शिक्षा की दृष्टि से भी किसी युग में भारतवर्ष बहुत उन्नत हो चला था। तक्षशिला और नालन्दा के ऐतिहासिक विश्व-विद्यालय यहां रहे हैं। इन विश्व-विद्यालयों में पहाड़ों और नदियों को लांघ कर ही नहीं, समुद्रों को लांघ कर लोग शिक्षा-प्राप्ति के लिए पहुँचा करते थे। विविध विषय यहां पर पढ़ाये जाते थे। भारत वर्ष की गुरुकुल-परम्परा भी बहुत उपयोगी रही है। वर्तमान युग में पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति के आधार पर समग्र देश में विद्यालय और विश्व विद्यालय चल रहे हैं। यह पद्धति भी बहुत विकसित है। पठन-पाठन और व्यवस्था के बहुत ही वैज्ञानिक प्रकार इसमें अपनाये गये हैं। विश्व विद्यालयों में जीवनोपयोगी लगभग सभी विषय पढ़ाये जाते हैं। प्राचीन काल में नालन्दा विश्व विद्यालय और तक्ष-शिला विश्व विद्यालय ये दो ही नाम विश्व विद्यालय की दृष्टि से प्रसिद्ध रहे हैं। वर्तमान में पचहत्तर बड़े विश्व विद्यालय समग्र देश में चल रहे हैं। अतीत की अपेक्षा वर्तमान में शिक्षा सुलभ हुई है, व्यापक हुई है और विविध धाराओं में विकसित हुई है। वर्तमान शिक्षा पद्धति में त्रुटि की बात रही है तो यही कि अब तक उसका भारतीयकरण नहीं हो पाया है। पश्चिम से जिस रूप में वह यहां आई, अब तक उसे उसी

रूप में चलाया जा रहा है। पश्चिम का इतिहास, पश्चिम की संस्कृति, पश्चिम की सभ्यता भारतीय जन-जीवन के मूल्यों से बहुत दूर रह जाती है। वर्तमान शिक्षा-पद्धति का भारतीयकरण न हो पाया, इसका ही परिणाम है कि देश से भारतीय संस्कृति और भारतीय सभ्यता मिटती जा रही है और पश्चिमी मूल्य भारतीय जीवन पर हावी होते जा रहे हैं।

भारतीय संस्कृति का आधार है, उसका अपना अध्यात्मवाद। विश्व के इतिहास में भारतवर्ष का जो निरुपम स्थान रहा है, वह अध्यात्मवाद पर ही रहा है। महावीर, बुद्ध, अक्षपाद, कणाद, जैमिनी, कपिल प्रभृति अध्यात्म-वेत्ता यहां होते ही रहे हैं और अध्यात्म के विकास में नव-नव उन्मेष लाते ही रहे हैं। वर्तमान शिक्षा-पद्धति में फ्रायड, मार्क्स, डार्विन आदि को पढ़ने का अवसर विद्यार्थी को बहुलता से मिलता है, पर उक्त भारतीय दर्शन-प्रणेताओं को पढ़ने और समझने का अवसर नगण्य-सा ही मिलता है। अपेक्षा है, वर्तमान शिक्षा-पद्धति के भारतीयकरण की। उस भारतीयकरण में वर्तमान शिक्षा-पद्धति का विकास-तत्व और भारतीय संस्कृति का अध्यात्मवाद; दोनों संयुक्त हो जायेंगे।

भारतीय संविधान में धर्म-निरपेक्षता (Secularism) की नीति को मान्यता दी गई है। इस आधार पर ही समस्त शिक्षा-प्रणाली को धार्मिक शिक्षा से वंचित रखा जा रहा है। समस्त नई पीढ़ी को भारतीय अध्यात्म से वंचित रखा जा रहा है। यह धर्म-निरपेक्षता की नीति का दुरुपयोग है। धर्म-निरपेक्षता की नीति का अर्थ है-भारतीय प्रशासन किसी एक धर्म को राष्ट्र-धर्म के रूप में मान्यता न दे। इसका अर्थ यह

नहीं कि भारतीय शासन-तन्त्र आध्यात्मिकता की अपनी मूल-भूत परम्परा के लिए कुछ उत्तरदायी ही न रहे। धर्म और अध्यात्म को जीवित रखना भारतीय शासन-तन्त्र का प्रथम कर्तव्य होना चाहिए। ऐसा वह धर्म निरपेक्षता की नीति को सुरक्षित रखते हुए भी कर सकता है। इस दिशा का प्रथम पद-विन्यास हो सकता है—धार्मिक शिक्षा का स्वीकरण। भारतवर्ष में विविध धर्म हैं। शिक्षा प्रणाली के साथ धार्मिक शिक्षा को जोड़ लेना कठिन अवश्य है, पर असम्भव नहीं। धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता मान ली गई तो अनेक सर्वमान्य मार्ग उसके लिए निकल सकेंगे, ऐसी आशा है।

प्रज्ञा-परीक्षण

१. प्राचीनता और अर्वाचीनता की संगति नारी-समाज को अपने जीवन-व्यवहार में कैसे करनी चाहिए?
२. दर्शन और विज्ञान की संगति को आप अपने शब्दों में व्यक्त करें।
३. भारतवर्ष के दो प्राचीन विश्व विद्यालय कौनसे हैं?
४. वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का भारतीयकरण न होने के कारण वर्तमान शिक्षा प्रणाली में क्या-क्या दोष आ जाते हैं?
५. धर्म-निरपेक्षता का तात्पर्य अपने शब्दों में व्यक्त करें।

: १६ :

स्वामी, श्रमिक और घेराव

ठहराव की बीमारी से बड़े लोग निपटे ही नहीं थे कि घेराव का भूत उनके सामने और आ खड़ा हुआ। वह प्रश्न स्वामियों और स्वामियों के बीच का था। यह प्रश्न श्रमिकों और स्वामियों के बीच का है। उस प्रश्न से केवल लड़कियों के पिता ही प्रभावित होते थे। यह प्रश्न समग्र उद्योगपतियों को प्रभावित कर देने वाला है।

युग की चाह श्रमिकों के पक्ष में है। युग अर्थ से भी अधिक श्रम को सम्मान देना चाहता है। श्रमिक अपना खून-पसीना एक कर, भूखे पेट उत्पादन करता रहे और उस उत्पादन का समग्र लाभ उद्योगपति उठाता रहे, यह उसे तनिक भी स्वीकार नहीं। इस क्रम में उद्योगपति का स्वामित्व बढ़ता जाता है और श्रमिक की श्रमिकता बढ़ती जाती है। स्वामित्व के साथ शोषण करने का बढ़ाव होता है और श्रमिकता के साथ शोषित होते रहने का। इस क्रम की जीवन-रेखा लम्बी नहीं हो सकती। जो युग को स्वीकार नहीं है, वह किसी को स्वीकार नहीं है। स्वामियों को भी इस तथ्य को समझना है और अपने आप को क्रमशः बदलना है। उनका बदलना ही उनकी संरक्षण-रेखा है। बदलने के अभाव में कभी भी उन्हें आकस्मिक निधन का न्यौता मिल सकता है।

श्रमिक अपने सत्व का विस्तार घेराव के द्वारा करना चाहते हैं। उनकी मान्यता है—हड़ताल आदि को वैधानिकता मिली, इसी प्रकार घेराव को भी वैधानिकता मिल जाये तो हम एक साथ ही बहुत सारे पड़ाव आगे बढ़ जाते हैं। समाधान की ओर आगे बढ़ने

के लिए यह जनतान्त्रिक पद्धति नहीं है। यह तो नितान्त अराजकता और स्वैराचार का मार्ग है। घेराव को मान्यता देने का अर्थ है—न्यायाधीश की कलम किसी एक के हाथ में पकड़ा देना जिससे श्रमिक मनमाना अधिकार पा जायेंगे और स्वामियों का कोई त्राण नहीं रहेगा।

जनतंत्र में किसी भी वर्ग के सत्व का विस्तार संसदीय मान्यता से ही हुआ करता है। जनतंत्र में उचित की परिभाषा वही हो सकती है, जो संसद को मान्य हो। संसद में अपना बल बढ़ाने के लिए प्रत्येक वर्ग स्वतंत्र है। वह अपनी बात जनता को समझा दे। जनता के प्रतिनिधि संसद में जाकर उस बात को मान्यता देंगे। अन्यथा वह अपनी बात बहुमत जितने संसद सदस्यों को समझा दे, सहज ही उसके सत्व का विकास सम्भव हो सकेगा। श्रमिक नेताओं को यह रास्ता लम्बा लगता है। वे स्वामियों को उत्पीड़ित करने का सीधा अधिकार श्रमिकों को दिलाना चाहते हैं। वैधानिकता का मार्ग लम्बा ही हुआ करता है। पर सभ्य लोग उसी रास्ते पर चलना अधिक पसन्द करते हैं, अपेक्षाकृत किसी छोटे अवैधानिक मार्ग के। कोई भी सभ्य नागरिक अपना रुपया चुकाने के लिए न्यायालय ही जाना पसन्द करेगा, अपेक्षाकृत कर्जदार के घर जाकर उसका गला दबोचने के।

श्रमिक कहते हैं—हम सत्व के विस्तार के लिए नहीं, अपितु सत्व के संरक्षण के लिए ही घेराव कर रहे हैं। श्रमिक सम्बन्धी अधिनियमों का पालन स्वामी लोग नहीं करते, तभी हमें ऐसा करना पड़ता है। इसका उत्तर होगा, न्यायालय फिर किसलिए रह जाते हैं। विधान सभाएं और संसद नियम बनाती है। उन नियमों के लंघन करने वाले को न्यायालय दण्डित करता है। श्रमिकों को अपने सत्व के विस्तार के लिए कोई अधिनियम बनवाना हो तो देश

में संसद है। अपने सत्व-सम्बन्धी नियमों का पालन उन्हें स्वामियों से करवाना है तो देश में न्यायालय हैं। इस स्थिति में घेराव की नीति अपना कर लोकतांत्रिक व्यवस्था का लंघन ही करते हैं।

कहा जाता है—घेराव-नीति अहिंसात्मक सत्याग्रह की प्रतीक है। वस्तुस्थिति यह है, गांधीजी ने सत्याग्रहियों को कतार बांधकर खड़े होने से भी रोका था, इसलिए कि प्रतिपक्ष के गमनागमन में अवरोध न हो। घेराव-नीति तो स्पष्टतः गमनागमन का विरोध ही है; अतः न तो इसे गांधीजी का सत्याग्रह ही कहा जा सकता है और न अहिंसात्मक भी।

घेराव-नीति व्यवहारिक भी नहीं है। श्रमिक पूंजीपतियों का घेराव करेंगे, पूंजीपति सरकार का। विद्यार्थी अध्यापकों का घेराव करेंगे, अध्यापक सरकार का। कुल मिलाकर सरकार सब वर्गों के द्वारा सब ओर से घिर जायेगी। घेराव पूंजीपतियों के लिए जितनी बड़ी बला सिद्ध होता है, उससे भी बढ़कर वह सरकार के लिए हो सकता है। पूंजीपतियों से तो एक ही वर्ग का सम्बन्ध रहता है; सरकार से सभी वर्गों का। आशा है, कांग्रेसी या गैर-कांग्रेसी सरकारें घेराव को वैधानिकता देने की भूल नहीं करेंगी। वैधानिकता मिलते ही घेराव महामारी की तरह फैल सकता है। लड़के पिता पर घेराव डाल सकते हैं। बहुएं सास पर। सारा सामाजिक जीवन ही अस्त-व्यस्त हो सकता है।

प्रज्ञा—परीक्षण

१. श्रमिक समस्या को लेकर स्वामियों की संरक्षण-रेखा क्या है ?
२. श्रमिकों की ओर से किया जाने वाला घेराव क्या है ?
३, लोकतांत्रिक पद्धति में श्रमिक—समस्या का संवैधानिक समाधान क्या है ?
४. घेराव—नीति अहिंसात्मक क्यों नहीं है ?
५. घेराव—नीति व्यवहारिक क्यों नहीं है ?

: १७ :

विद्यार्थी और ध्वंस-कार्य

विद्यार्थी-समस्या को हम तब देख पाते हैं, जब वह उभर कर तोड़-फोड़, पथराव और गोली तक पहुंच जाती है। उस दिन की घटना पर ही हम किसी एक पक्ष को दोषी ठहराते हैं। वस्तुस्थिति यह होती है कि मूल से यहां तक का विस्तार बहुत क्रमिक होता है। यथार्थता तक पहुंचने के लिए हमें उस अन्तिम घटना के मूल तक पहुँचना होगा।

विद्यार्थियों की कुछ एक मांगें होती हैं। वे अधिकारियों के पास जाती हैं। बहुत दिनों तक उन पर विचार ही नहीं होता। विद्यार्थियों में रोष उभरने लगता है, तब अधिकारियों के कानों पर थोड़ी-सी जूं रेंगती है। उन पर विचार होता है और अन्त में उन्हें अनावश्यक कह कर ठुकरा दिया जाता है। विद्यार्थी हड़ताल कर देते हैं, जुलूस निकालते हैं, नारे लगाते हैं। अधिकारी पुलिस का सहारा लेते हैं। पुलिस उन्हें रोकती है। वे पथराव कर देते हैं और पुलिस क्रमशः लाठी, अश्रु गैस व गोली चला देती है। इन सबके बीच तोड़-फोड़ हो जाती है। दोषी कौन होता है, अधिकारी या विद्यार्थी? एकान्त रूप से इसका उत्तर दे पाना कठिन है। दोनों ही पक्ष दोषी हैं, दोनों ही निर्दोष। अधिकारियों की दृष्टि में विद्यार्थियों की मांगें अनुचित हैं, अतः उन्हें मानें कैसे? विद्यार्थी उन्हें उचित मानते हैं, अतः उन्हें छोड़ें कैसे? यही समस्या का मूल होता है। मूल का विवाद ही आखिरी दिन की घटना का रूप है। तोड़-फोड़ और गोली-वार किसी का उद्देश्य नहीं होता। वे विवाद की परिणति होते हैं।

समस्या का समाधान इसी बात में है कि अधिकारी विद्यार्थियों की उचित बातों पर समय पर गौर करने के आदी हों। उनकी दृष्टि में जो बातें अनुचित हों, उन्हें सौहार्दपूर्वक विद्यार्थी–प्रतिनिधियों को समझाने का प्रयत्न करें। विद्यार्थी अपनी बातें अधिकारियों को समझाने का प्रयत्न करें। उचित प्रयत्न के बाद भी वे अपनी बातें उन्हें न समझा सकें तो उन्हें छोड़ दें। उनके लिए वे इतने आग्रहशील न हों कि अपने अमूल्य प्राणों को भी उन छोटी बातों के लिए सौदे पर लगा दें। विद्यार्थी-जीवन की समस्याएं वर्तमान में आपको बड़ी प्रतीत होती हैं, पर वर्तमान बहुत छोटा है। भविष्य उसकी अपेक्षा में बहुत-बहुत बड़ा है; जिसके लिए आप सब कुछ कर रहे हैं; अतः भविष्य को धूमिल कर वर्तमान को स्पष्ट करना निकेवल घाटे का सौदा है।

समस्या मनुष्य के साथ उत्पन्न होती है और उसके मरने के बाद भी जीवित रहती है। समुचित प्रयत्न करते रहना मनुष्य का कर्तव्य है, पर किसी भी समस्या का अन्त पाने के लिए अनुचित मार्ग पर चल पड़ना सभ्यता का परिचायक नहीं होता। अनेक प्रयत्नों के बावजूद भी कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति का ऋण नहीं चुकाता तो क्या वह सभ्य गली में खड़े रहकर उससे गाली-गलोच और मारपीट करेगा? अधिक से अधिक वह कोर्ट में जा सकता है। न्याय पाने की लम्बी प्रतीक्षा करता है, फिर भी गारण्टी नहीं कि उसे न्याय मिल ही जाये। अस्तु, न्याय मिले या नहीं, सभ्य व्यक्ति संवैधानिक मार्ग से हट कर कुछ करना नहीं चाहेगा। विद्यार्थी भी सब कुछ उतावलेपन में निबटा लेना चाहते हैं, या चाहे जैसे तरीकों से निबटा लेना चाहते हैं; यह स्वस्थ नागरिकता का परिचायक नहीं है। वर्तमान युग में तो चिन्तन का विकास और अधिक हो रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं में भी सह-अस्तित्व और अनाक्रमण को मान्यता

मिल रही है। यह निरी अन्तर्राष्ट्रीय मूर्खता है कि किसी भी समस्या पर कोई देश अन्य देश पर सशस्त्र आक्रमण कर दे। सीमाओं के झगड़े शताब्दियों तक चलते रहते हैं। उनके लिए युद्ध किया जाये, तो युद्ध-विराम कभी होगा ही नहीं। भारतवर्ष ने विश्व के इतिहास में एक अनूठा पृष्ठ शान्ति, अहिंसा और धैर्य का जोड़ा है। गांधीजी ने कहा था—"मुझे वह स्वराज्य नहीं चाहिये, जो हिंसा से मिलता हो।" उस देश के विद्यार्थी तनिक-सी समस्या के लिए यदि विध्वंसात्मक प्रवृत्तियों के लिए तैयार होते हैं, तो उससे बढ़कर और न्यूनता की बात क्या होसकती है ?

अणुव्रत-आन्दोलन वर्तमान विद्यार्थी-समस्या का एक उपयुक्त समाधान प्रस्तुत करता है। प्रत्येक कालेज में 'अणुव्रत विद्यार्थी परिषद्' गठित हो। चरित्र और अनुशासन की प्रेरणा पाकर विद्यार्थी उसके लिए कटिबद्ध हों। प्राध्यापक व आचार्य ऐसा करने में उनके सहयोगी हों। विश्वविद्यालय स्तर पर उन संगठनों को मान्यता प्राप्त हो। विद्यार्थी स्वयं अपनी आचार-संहिता का निर्माण करें, जिसका एक नियम हो—"हम तोड़-फोड़ मूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लेंगे।"

इस प्रयोग से विद्यार्थी अनुशासन व अहिंसा के प्रति आग्रहशील होंगे। अपने कालेज में जब कभी तोड़-फोड़ का वातावरण बनेगा, अणुव्रत विद्यार्थी परिषद् के सदस्य उसमें अपनी असहमति प्रकट करेंगे और उस तोड़-फोड़ को टालने में प्रयत्नशील होंगे। ऐसी स्थितियां अनुभव में भी आई हैं। किसी एक विद्यालय में उत्तेजना बढ़ी, हड़ताल हुई, नारे लगे। आधे के लगभग विद्यार्थी स्थानीय अणुव्रत संगठन के सदस्य थे। तोड़-फोड़ की ओर ज्यों ही विद्यार्थी बढ़ने लगे, विद्यार्थी परिषद् के सदस्यों ने असहमति प्रकट की, विरोध किया। फलतः तोड़-फोड़ होते-होते बची।

प्रज्ञा–परीक्षण

१. विद्यार्थियों और पुलिस के बीच होने वाली मुठभेड़ का मूल कहां होता है और उसका क्रमिक विकास कैसे होता है ?

२. विद्यार्थी-समस्या उग्र रूप न ले, इस दृष्टि से विद्यार्थियों व अधिकारियों को कौनसा दृष्टिकोण अपना कर चलना चाहिए ?

३. समस्याओं के समाधान का सभ्य मार्ग क्या है ?

४. गांधीजी ने हिंसा से मिलने वाले स्वराज्य के विषय में क्या कहा था ?

५. विद्यार्थी-समस्या के लिए अणुव्रत-आन्दोलन क्या रूप रेखा प्रस्तुत करता है।

: १८ :

मानसिक दैन्य

(घटित घटना के आधार पर एक कहानी)

एक नगर में दो मित्र रहते थे। दोनों में परस्पर अपार आत्मीयता थी। दोनों ने सम्मिलित व्यापार किया। भाग्य ने उन्हें सहयोग किया। व्यापार बढ़ता ही गया। बढ़ते व्यापार में मित्रता भी बढ़ती ही गई। दोनों को सब कुछ अभिन्न जैसा लगता था।

ग्रीष्म काल था। आमों की मौसम थी। एक मित्र बाजार में घूमघाम कर दुकान आया। बाजार से आते हुए उसने कुछ आम खरीद लिये थे। आमों का थैला उसके हाथ में था। दुकान में एक ओर दोनों ही मित्रों के बच्चे परस्पर खेल रहे थे। आने वाले मित्र ने कहा—"आओ बच्चो! मैं तुम सब के लिये आम लाया हूँ।" बच्चे खेल छोड़ कर उसकी ओर दौड़ पड़े। बच्चों को निकट आते देखकर उसने भी थैले में हाथ डाला और एक आम निकाला। आम बड़ा था। दौड़कर आने वाले बच्चों में सबसे आगे दूसरे मित्र का बच्चा था। आम लेने के लिये उसने हाथ फैलाया। मित्र का हाथ वापस थैले में चला गया। बड़ा आम हाथ से गिर गया। छोटा आम उसने थैले से निकाला और अपने मित्र के बच्चे को दे दिया। फिर अन्य बच्चों को वह एक-एक आम देता गया। बड़ा आम अपने ही बच्चे के हाथ में चला गया। बच्चे सब खुश थे। छोटे आम व बड़े आम की बात उनकी समझ में नहीं आई थी। अपने-अपने आम पर मुंह लगाये वे सब एक ओर चले गये।

दूसरा मित्र वहीं दुकान में बैठा बही-खाते सम्भाल रहा था। उसने छोटे आम और बड़े आम का सारा खेल अपनी आंखों से देखा। अपने मित्र की संकीर्ण वृत्ति को देखकर उसका मन दो टूक हो गया। उसने सोचा—मेरे मित्र के मन में मेरे बच्चों और अपने बच्चों के सम्बन्ध में इतना भेद भरा है, जो आम के छोटेपन और बड़ेपन में ही छलक गया। मुझे अपने मित्र से व्यापारिक सम्बन्ध तोड़ देना चाहिये। इतने छोटे दिल वाला मित्र अपने स्वार्थ के लिए कभी धोखा दे सकता है। इतनी छोटी बात के लिए इतना बडा निर्णय लेने में उसकी आत्मा छटपटा रही थी। बेचैनी में जैसे-तैसे दिन काटा। सायंकाल होते ही उसने मित्र से कहा—"आज से और अब से ही हम दोनों को अपना-अपना व्यवसाय अलग-अलग कर लेना है।" मित्र अवाक् रहा। उसकी समझ में नहीं आया कि यह सब क्यों कहा जा रहा है। उसने कहा—"मित्र! बाल्य-काल से हम साथी रहे हैं। व्यवसाय में भी हम साथी रहे हैं। अकस्मात् ही यह प्रश्न क्यों उठाया जा रहा है? मुझे इससे वेदना होती है। मैं तेरे और मेरे अलग होने की बात सोच ही नहीं सकता।" उस मित्र ने कहा—"कुछ भी हो, मुझे अब तुम्हारे से अलग होना ही है। अनिर्णय के कुछ भी क्षण मेरे लिये कष्ट-कारक हो रहे हैं। मेरा जो समझते हो, मुझे दे दो।"

आखिर मित्र क्या करता? गीली आंखों और भरे हृदय से उसने सब वटवारा किया। लिखा-पढ़ी की। दोनों मित्र सदा के लिये पृथक्-पृथक हो गये। जाते-जाते पृथक् होने वाले मित्र ने कहा—"अब तुम अपने ही बच्चों को आम दोगे और उसमें छोटे-वड़े का भेद नहीं रहेगा।"

यह एक घटना है, जो इस बात की ओर संकेत करती है कि मन की छोटी-सी संकीर्णता भी कभी-कभी कितनी भयावह हो जाती है। मनुष्य सामाजिक जीवन जीता है। उसे अनेक लोगों के

साथ संबद्ध हो कर रहना होता है। आज जो पुत्र है. कल वही पिता हो जाता है, घर का स्वामी हो जाता है। आज जो बहू है, कल वही सास हो जाती है, घर की स्वामिनी हो जाती है। पारिवारिक जीवन का जितना विस्तार हो जाता है, अनुपात में हृदय का भी उतना ही विस्तार हो जाना चाहिये। दायित्व विस्तृत हो जाये और हृदय संकीर्ण बना रहे; यह निभने वाली बात नहीं होती। मित्र का हाथ अपने बच्चे को सामने न देख कर वापस थैले में चला गया। वड़ा आम हाथ से छूट गया। छोटा हाथ में आ गया। इस मानसिक दैन्य पर आप हंसेंगे। पर इस बात का आपको ध्यान नहीं है कि इसी प्रकार के मानसिक दैन्य के शिकार आप स्वयं भी बहुधा होते रहते हैं। आपके अनेक पुत्र हैं, कुछ सेवा भावी हैं, कुछ तटस्थ हैं। आपके मन में क्या यह नहीं बना रहता है कि किसी तरह से मैं अपनी सम्पत्ति का हिस्सा अपने विनयशील पुत्र के घर में अधिक पहुंचा दूं। यह एक उदाहरण है। पारिवारिक जीवन में खान-पान, रहन-सहन और लेन-देन के सम्बन्ध में अनेक अवसर आते ही रहते हैं। आपका मन एक ओर झुकता है एवं दूसरी ओर से संकुचित होता है। अहिंसा अणुव्रत का साधक प्रतिक्षण सचेष्ट रहता है कि मैं इस मानसिक दैन्य से बचता रहूँ। वह मानसिक अहिंसा का विकास चाहता है। मानसिक अहिंसा के विकास की पहिचान है—तथाप्रकार के मानसिक दैन्य का अभाव।

प्रज्ञा—परीक्षण

१. प्रथम मित्र ने ऐसा कौनसा दुर्व्यवहार किया कि दूसरे का दिल टूक-टूक हो गया ?

२. दूसरे मित्र ने अपनी व्यावसायिक पृथक्ता का अचूक आग्रह क्यों किया ?

३. छोटे आम और बड़े आम के कथानक से आपने क्या सीखा ?

४. दायित्व विस्तृत हो जाये और हृदय संकीर्ण बना रहे तो क्या-क्या कठिनाइयां उत्पन्न हो सकती हैं ?

५. मानसिक दैन्य का निराकरण कौनसे अणुव्रत की साधना से किया जा सकता है ?

: १६ :

धर्म और राजनीति

राजनीति और धर्म का सम्बन्ध कैसा रहे, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। राजनीति धर्म से संचालित हो, इसके परिणाम सुन्दर नहीं होंगे। इतिहास बताता है, जब-जब और जहां-जहां राजनीति और धर्म का इतना सघन गठजोड़ हुआ; राजनीति और धर्म दोनों ही अपवित्र हुए। धर्म तर्क का विषय न रहकर तलवार का विषय बन गया। प्रशासन प्रजा के हित के लिए न होकर, सम्प्रदाय-विस्तार के लिए हो गया।

राजनीति और धर्म का एक हो जाना जितना हानि-कारक है; इन दोनों का सर्वथा बिलग हो जाना, उससे भी अधिक हानि-कारक है। राजनीति धर्म और नैतिक मूल्यों से अनुप्राणित रह कर ही पवित्र रह सकती है। धर्म और नैतिकता से सर्वथा दूर रहकर वह अमानवीय बनती जायेगी। इस स्थिति में एक ही विकल्प रह जाता है, राजनीति और धर्म का सम्बन्ध पति-पत्नी जैसा न हो; पर भाई-बहिन जैसा अवश्य रहे। भाई-बहिन एक दूसरे से पृथक् रहकर भी परस्पर दायित्वशील होते हैं। बहिन की रक्षा का भार भाई पर सदैव रहता है। भाई के हितों का सम्वर्धन बहिन सदैव चाहती रहती है। राजनीति और धर्म के तथारूप सम्बन्ध में धर्म-निरपेक्षता की नीति (Secularism) भी बाधक नहीं बनती।

भारतवर्ष में प्राचीन काल से ऐसी ही नीति का अनुसरण होता रहा है। राजा और सम्राट ऋषि-मुनियों से आवश्यक

मार्गदर्शन लेते रहे हैं। ऋषि-मुनि भी राजाओं को कुमार्गगामी होने से बचाते रहे हैं। राम का महर्षि वशिष्ठ से आध्यात्मिक संसर्ग था। राम-राज्य की न्याय-नीति का वही एक मात्र आधार था; यह रामायण बताती है। पौराणिक युग से जब हम ऐतिहासिक युग में आते हैं, वहां भी हम यही परम्परा पाते हैं। भारतवर्ष का उपलब्ध इतिहास मुख्यतः महावीर और बुद्ध के काल से प्रारम्भ होता है। उस समय देश में अनेक गणतन्त्र थे। वज्जी गणतन्त्र, शाक्य गणतन्त्र आदि के राजा महावीर और बुद्ध के परिपार्श्व से बहुत कुछ पाते थे। मगध साम्राज्य के अधिनेता बिम्बिसार व अजातशत्रु की राजनीति पर भी महावीर और बुद्ध का आध्यात्मिक अंकुश बहुत कुछ रहता था। सम्राट चन्द्रगुप्त के महामंत्री चाणक्य जहां राजनैतिक गुरु थे, जैनाचार्य भद्रबाहु उसके धार्मिक गुरु थे। सम्राट् अशोक की राजनीति पर भी बौद्ध श्रमणों का स्पष्ट प्रभाव था ही। राजनीति और धर्म का यह निरपेक्ष सम्बन्ध था। इस अनौपचारिक सम्बन्ध से राजनीति धर्म से सदैव लाभान्वित होती रही है।

भारतवर्ष में विगत बाइस वर्षों से विराट जनतांत्रिक प्रयोग चल रहा है। चार आम चुनाव देश में हो चुके हैं। राजनैतिक अस्थिरता, राजनैतिक तनाव, राजनैतिक अनैतिकता आदि से सारा देश सिहर-सा उठा है। देश की इस निराशापूर्ण स्थिति में धर्माचार्यों एवं धर्म-गुरुओं का क्या योग हो सकता है, यह एक अछूता प्रश्न है। कुछ लोगों का चिन्तन है, धर्माचार्यों एवं साधु-सन्तों को सक्रिय राजनीति में आना चाहिए एवं देश का उद्धार करना चाहिए। वह चिन्तन सही नहीं लगता। भारतवर्ष में साधु-सन्त ऋषि-मुनि सदैव पूज्य दृष्टि से देखे जाते रहे हैं। आज भी अधिकांश राजनैतिक दलों द्वारा वैसे ही देखे जाते हैं। उनके सक्रिय राजनीति में आ जाने से वह परम्परा समाप्त हो जायेगी। वे राजनैतिक आक्षेप-प्रत्याक्षेप

के दल-दल में फसेंगे। यह सब होकर भी वे [illegible] का इतना हित नहीं कर सकेंगे, जितना राजनीति-निरपेक्ष रहकर कर सकेंगे। राजनैतिक तटस्थता के साथ दिया गया उनका मार्ग-दर्शन अधिक व्यापक व महत्वपूर्ण रह सकता है।

प्रज्ञा-परीक्षण

१. राजनीति और धर्म के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध से क्या हानि हुई ?

२. राजनीति के धर्म से सर्वथा दूर चले जाने पर सम्भावित हानियां क्या क्या हैं ?

३. राजनीति और धर्म का सम्बन्ध कैसा होना चाहिये ?

४. प्राचीन भारत में राजनीति और धर्म का कैसा सम्बन्ध रहा, उदाहरण देकर स्पष्ट करें।

५. देश की वर्तमान राजनीति में धर्माचार्यों एवं धर्म-गुरुओं का योग कैसा होना चाहिए ?

अणुव्रत अयन

: १ :

अणुव्रत–आन्दोलन : आरम्भ से अब तक

एक छोटा-सा स्पन्दन सचमुच ही आन्दोलन बन गया। भारतवर्ष स्वतन्त्र हुआ ही था। पराधीनता से दबी और द्वितीय विश्व-युद्ध से संत्रस्त भारतीय चेतना पर अनैतिकता का दबाव बढ़ ही रहा था। उन दिनों अणुव्रत-आन्दोलन-प्रवर्तक आचार्य श्री तुलसी छापर (राजस्थान) कस्बे में वर्षाकालीन प्रवास कर रहे थे। एक दिन अनौपचारिक विचार–चर्चा में उपस्थित लोगों ने कहा—"यह असंभव है कि नैतिकता का पालन करते हुए आज की परिस्थितियों में कोई सामाजिक जीवन जी सके।" आस्था के इस अधः-पात को देखकर आचार्यप्रवर का आर्ष-हृदय सहसा सिहर उठा। उन्हें लगा, आस्थाओं का पतन नैतिक पतन से भी अधिक भयावह है। इसे सम्भालना चाहिए! ऋषियों व महर्षियों का देश कहीं आध्यात्मिक आस्थाओं से शून्य अनार्य न बन जाये।

अगले ही दिन प्रवचन में आह्वान किया, मुझे लाख नहीं, सहस्र नहीं, केवल पच्चीस व्यक्ति चाहिए, जो अनैतिकता के प्रवाह को मोड़ने में आगे बढ़ कर अपने चरण थाम सकें। देश के नाम पर जाति के नाम पर, मर मिटने के लिए सहस्रों लोग आगे आते हैं: क्या आध्यात्मिक व चारित्रिक आस्थाओं के इस दुःसह प्रपात पर खड़े होने के लिए मुझे पच्चीस व्यक्ति भी नहीं मिलेंगें? मुझे ऐसे सुभट चाहिए, जो प्रण करें कि जो भी नैतिक आचार-संहिता दी जायेगी, विना ननु-नच हम उस पर आगे बढ़ेंगे। वातावरण स्फूर्तिमान था। एक-एक कर पच्चीस व्यक्तियों ने अपने नाम दिए। भिक्षुक की झोली भर गई।

भिक्षुक संतुष्ट हुआ। यही एक घटना थी, जिसे आज हम अणुव्रत-आन्दोलन का शिलान्यास कह सकते हैं।

आचार-संहिता

चरित्र-निर्माण की रूपरेखा का कार्य प्रारम्भ हुआ। आदर्श और व्यक्ति सर्वथा अलग-अलग पड़ गये, उन्हें कैसे जोड़ा जाये, यह एक समस्या थी। आदर्शों की ऊंचाई और व्यक्ति के स्तर में कोई तालमेल नहीं बैठ रहा था। अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह आदि आदर्शों के शिखर पर छलांग भरने के लिए सबको कहा जाये तो वे इसे अनहोनी बात मान कर उसके मूल से भी दूर हट जायेंगे। व्यक्ति और आदर्श को विश्लिष्ट ही रहने देने में सर्वनाश की सूचना थी तो व्यक्ति को यकायक आदर्शों के शिखर पर पहुंचा देने की कल्पना में असंभवता। इस स्थिति में क्रमिक आरोहण का सोपान ही व्यवहार्य और अपेक्षित माना गया और वह सोपान अणुव्रत-आन्दोलन की आचार-संहिता के रूप में सामने आया।

शुभारम्भ

काँटों के बीच गुलाब के उद्भव की तरह आलोचनाओं के बीच अणुव्रत-आन्दोलन का शुभारम्भ हुआ। आचार-संहिता जैसे-जैसे तैयार हो रही थी, औपचारिक तथा अनौपचारिक रूप से सर्वसाधारण के सामने आ रही थी। विभिन्न प्रतिक्रियाएं होनी ही थीं। सब वस्तुओं का देश व्यापी कन्ट्रोल चल रहा था; अतः चोर-बाजारी अपनी चरम सीमा पर थी। उससे बच पाना नितान्त असम्भव माना जाता था। मिलावट, रिश्वत आदि की भी यही स्थिति थी। लोग उपहास करते थे, कौन अपनायेगा, ये नियम? नियमों को अपनाने वाले या तो आत्म-वंचना करेंगे या भूखों मरेंगे। इन पच्चीस लोगों की भावुकता में देखें और कौन सम्मिलित होता है। आचार-संहिता में कुछ

नियम ऐसे भी थे, जो जन्म, विवाह और मृत्यु से सम्बन्धित सामाजिक आडम्बरों, रूढ़ियों और कुप्रथाओं का विरोध करते थे। रूढ़िग्रस्त लोगों के लिए उन्हें सुन लेना भी आक्रोश का कारण बनता था। घरों, बाजारों व हमारे चारों ओर प्रतिक्रियाओं का एक अभेद्य-सा ताना-बाना बन चला था। लगता था, नैतिकता की खिलती हुई कलियों पर झंझावात मंडरा गया है।

आचार्य वर अपने संकल्प पर अडिग थे। देखते-देखते शुभारंभ का निर्धारित दिन आ गया। सरदारशहर का प्रवास था। गधैयों का 'नोहरा' था, जहां दस सहस्र से भी अधिक लोग एक परिषद् में बैठ सकते हैं। मंगलाचरण हुआ। व्रतों का वाचन हुआ। आचार्य प्रवर के ओजस्वी आव्हान पर एक-एक कर इक्कावन व्यक्तियों ने अणुव्रत आचार-संहिता पर चलने के लिए अपने आपको समर्पित किया। वे पच्चीस व्यक्ति भी अपने आपको दुगुनों में पाकर और अधिक साहसी बने। इस प्रकार अणुव्रत-आन्दोलन का आरम्भ ही उसकी भावी सफलताओं का शुभ संकेत बना। यह ऐतिहासिक दिन वि० सं० २००५, फाल्गुन शुक्ला २ (१ मार्च, १९४९) का था।

समुद्रों पार

मार्क्स का यह विचार निराधार ही नहीं है कि संघर्ष के बिना, विरोधी समागम के बिना विकास या गुणात्मक परिवर्तन नहीं होता है। अणुव्रत-आन्दोलन के बारे में भी बहुत दिनों तक यही क्रम चालू रहा। जनता में विचारों का घर्षण होता रहा और छन-छन कर लोग अणुव्रती बनते रहे। ५१ से आरम्भ होने वाला अनुष्ठान एक ही वर्ष में ६२१ तक पहुंच गया।

प्रथम वार्षिक अधिवेशन भारत वर्ष की राजधानी दिल्ली में हुआ। सार्वजनिक समारोह में ६२१ व्यक्तियों ने चोर बाजारी न

करना, मिलावट न करना आदि समग्र अणुव्रत-प्रतिज्ञाएं खड़े होकर विधिवत् ग्रहण कीं। साहित्यकारों, पत्रकारों, राजनयिकों तथा नागरिकों ने इसे राजधानी के इतिहास में अपूर्व अवसर माना। आज भले ही यह बात हमें इतनी बड़ी नहीं लगती हो, पर चोर-बाजारी के भयंकर वातावरण में अवश्य ही वह एक अनोखी घटना थी। अगले दिन दैनिक पत्र-पत्रिकाओं में छपा—"कलियुग में सतयुग का उदय", "अमावस के अंधेरे में प्रकाश की एक किरण", "६०० लखपति-करोड़पतियों द्वारा चोरबाजारी न करने की प्रतिज्ञा", आदि-आदि। यह चर्चा केवल देश के विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में ही नहीं, समुद्रों पार ब्रिटेन, अमेरिका तक के पत्र-पत्रिकाओं में भी हुई। लोगों को लगा, अणुव्रत-आन्दोलन एक ही छलांग में सात समुद्रों पार पहुंच गया है।

वातावरण में सघनता आई। जनता में आन्दोलन के प्रति उत्साह जगा। अणुव्रती बनने का अभियान बल पकड़ गया। दूसरे अधिवेशन पर ११००, तीसरे पर १५००, इस प्रकार बढ़ते हुए अणुव्रती सहस्रों में पहुंच गये।

साहस का परिचय

जो लोग अणुव्रती बनें, सचमुच ही उन्होंने समाज के सामने साहस का परिचय दिया। बहुत सारे अणुव्रतियों ने सहस्रों व लाखों के साक्षात् मिलने वाले लाभ को ठुकरा दिया। बहुतों की आय मिलावट, झूठा तोल-माप आदि न करने से सीमित हो गई। चोर-बाजारी व मिलावट आदि न करने के नाम पर बहुतों को अपनी नौकिरियों से हाथ धो लेना पड़ा। सामाजिक रूढ़ियों का पालन न करने से बहुतों को पारिवारिक और सामाजिक संक्लेश में पड़ना पड़ा। कुछ एक को अपने नैतिक आग्रह के कारण विधान मण्डलों

व नगरपालिकाओं के चुनावों में भी हार खा लेनी पड़ी। सब कुछ सह कर भी उन्होंने अपना धैर्य नहीं खोया। बाधाओं में उन्हें आनन्द मिलने लगा। यह एक प्रतिस्पर्धा-सी बन गई कि किसने कठिनाइयों का अधिक मूकाबला किया और किसने नैतिकता का। समाज में अधिक-से-अधिक अणुव्रती बनें और इसी प्रकार समाज के सन्मुख आदर्श उदाहरण रखते रहें, यह अणुव्रत-आन्दोलन का आज भी एक प्रमुख ध्येय है। ऐसे थोड़े ही लोग क्यों न हों, पर वे समाज की दिशा को मोड़ते हैं।

पद-यात्राएं और जन-सम्पर्क

आचार्य श्री तुलली जैन तेरापंथ-परम्परा के नवम अधिशास्ता हैं। उनके नेतृत्व में ६५० के लगभग साधु-साध्वियां तथा लाखों अनुयायी हैं। आचार्य तुलसी का आदेश ही उन सब के लिए सर्वोपरि आदेश है। पाद-विहार जैन साधु-चर्या का अभिन्न अंग है। अणुव्रत आन्दोलन के शुभारम्भ के साथ ही पाद-विहार में विशेष सक्रियता आई। आचार्यवर ने स्वयं तब से अब तक १८ वर्षों में लगभग २० हजार मील की पद-यात्राएं देश के सुदूर भागों में कीं। साधु-जन भी अणुव्रतों का सन्देश लेकर उत्तर से दक्षिणी अंचल तक व पश्चिम से पूर्वी अंचल तक सारे देश में फैले। जन-सम्पर्क का इतना बड़ा अभियान इतिहास का एक अनूठा चरण बनता है। प्रारम्भ में लोगों को लगा कि यह अभियान सम्प्रदाय-विशेष का प्रचार मात्र ही न हो, पर धीरे-धीरे अणुव्रत आन्दोलन को राष्ट्रीय स्तर पर सार्वजनिक रूप मिला। जाति, धर्म, प्रान्त, भाषा आदि के भेद-भाव बिना सभी लोगों ने इसे अपनाया।

विभिन्न धाराओं में

अणुव्रत आन्दोलन का ध्येय एक था—नैतिक मूल्यों का पुनरुज्जीवन कार्य-पद्धति में देश-काल के अनुसार नव-नव उन्मेष होते

रहे । कहना चाहिए, हिमालय की उपत्यकाओं से आने वाला निर्झर क्षेत्रीय अपेक्षाओं के अनुसार अनेक धाराओं में बहने लगा । अभियान को चरितार्थ करने में वैयक्तिक चेतना ही पर्याप्त न थी, इसलिए वर्गीय कार्यक्रमों का आविर्भाव हुआ और वर्गीय नियमों का निर्माण हुआ । इस आधार पर व्यापारियों, विद्यार्थियों, राजकर्मचारियों, महिलाओं आदि में व्यापक सुधार हुआ । सहस्रों-सहस्रों लोगों ने अपनी-अपनी वर्गगत बुराइयों का परित्याग कर देश के सामने एक अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया । सन् १९५७ के आम चुनाव के अवसर पर चुनाव-सम्बन्धी आचार-संहिता का निर्माण हुआ । लगभग सभी राजनैतिक दलों के शीर्षस्थ लोगों ने उस संहिता के निर्धारण में भाग लिया और अपने-अपने दलों में उसे क्रियान्वित करने का आश्वासन दिया ।

अणुव्रत विचार-परिषदों का देशव्यापी कार्यक्रम चला । विश्रुत विचारकों व जन-नेताओं ने अणुव्रत के मंच से सात्विक मूल्यों को आगे बढ़ाया ।

चरित्र-निर्माण-सम्बन्धी सप्ताह और पखवाड़ों की भी बाढ़-सी आई । नैतिकता के पक्ष में वातावरण आन्दोलित हुआ ।

राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अहिंसा-दिवस व मैत्री-दिवस आदि मनाने की भी परम्पराएं बनी हैं ।

जन्म, विवाह और मृत्यु-सम्बन्धी सामाजिक रूढ़ियों के अपनयन के लिए 'नई मोड़' का प्रवर्त्तन हुआ पर्दा-प्रथा के बहिष्कार का अभियान भी इसका अंग बना । अणुव्रतों के आचरण में जो सामाजिक कठिनाइयां अणुव्रतियों के सामने रहती थीं, वे इस कार्यक्रम से बहुत कुछ दूर हुईं । समाज के निर्जीव ढर्रों में व्यापक परिवर्तन आया ।

जीवन को साधना-शील बनाने की दृष्टि से 'उपासक संघ' का आविर्भाव हुआ। उसमें शिविर-साधना के आधार में खान-पान, रहन-सहन आदि के यथोचित परिवर्तन का अभ्यास कराया जाता है। ध्यान, तत्वज्ञान आदि का प्रशिक्षण दिया जाता है। अणुव्रत आदर्शों को जीवन में उतारने की सचमुच ही यह एक प्रयोगशाला है।

रूस और अमेरिका के अधिनायक; ख्रुश्चेव और आइजनहाइवर के ऐतिहासिक मिलन के अवसर पर एक पंचसूत्री अन्तर्राष्ट्रीय आचार-संहिता का निर्माण हुआ। आचार्यवर का सन्देश व आचार-सहिता सभी प्रमुख देशों में प्रसारित की गई। उस आचार-संहिता को और अधिक व्यापक बनाने तथा उसे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता दिलाने का महान् कार्य अणुव्रत-आन्दोलन के सामने है।

सहयोगी स्रोत

अणुव्रत-आन्दोलन को सभी स्तरों पर पूरा-पूरा सहयोग मिला है। जनता का तो स्वयं का वह अपना आन्दलोन था ही। सर्व प्रथम इसे पत्रकारों ने पकड़ा। चलने वाली बहुमुखी प्रवृत्तियों को सबके सामने रखना, उन्होंने अपना काम समझा। संवादों के अतिरिक्त लेखों, लेख-मालाओं व विशेषांकों का प्रकाशन भी यथेष्ठ रूप से उन्होंने किया और आज भी करते जा रहे हैं।

जनता की तरह जन-नायकों ने भी आन्दोलन में अप्रत्याशित रस लिया। प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद और प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने तो आन्दोलन के लिए सब कुछ किया, जो उनसे अपेक्षित था। केन्द्रीय मंत्रिमण्डल के सदस्यों, विभिन्न प्रान्तों के राज्यपालों व मन्त्रियों ने भी अपने-अपने क्षेत्र में अणुव्रतों को बल देना अपना-अपना कर्तव्य माना। आन्दोलन की यह

उल्लेखनीय विशेषता रही कि विभिन्न राजनैतिक दलों का सहयोग व समर्थन भी समान रूप में मिला।

सब क्षेत्रों में अणुव्रतों के लिए द्वार खुले। प्रशासन ने राजकीय विभागों के द्वार खोले। विश्व विद्यालयों ने कालेजों के द्वार खोले, पंडितों ने मंदिरों के द्वार खोले, मौलवी लोगों ने मस्जिदों के द्वार खोले, जेल और पुलिस के दरवाजे भी अणुव्रतों के लिये खुले। सभी क्षेत्रों में डटकर काम हुआ और हो रहा है। इस प्रकार सब ओर के सहयोगी स्रोतों से अणुव्रतों का निर्झर समृद्ध बनता ही गया और बनता ही जा रहा है।

संगठन और साहित्य

अणुव्रत-आन्दोलन की पृष्ठ भूमि में ६५० जीवन-दानी व पाद-विहारी मुनिजनों का अनूठा बल तो है ही, साथ साथ प्रारम्भ से अब तक कार्य कर्ताओं का विस्तार भी होता रहा है। अनेकानेक लोगों ने हर दिशा से अपने आपको अर्पित किया है, अपने-अपने क्षेत्रों में प्रभावशाली कार्य करके दिखाया है। केन्द्रीय अणुव्रत-समिति आरम्भ से काम कर रही है। स्थानीय अणुव्रत समितियों का भी देश में जाल बिछता जा रहा है।

अणुव्रत विद्यार्थी परिषदों का, अ० भा० महिला मण्डलों का संगठन व्यापक रूप से हुआ है। अन्यान्य वर्गों में भी वर्गीय संगठन बनें और अपने-अपने वर्ग में नैतिक चेतना बनाये रखें, यह संगठन की भावी दिशा है।

साहित्य की दिशा में चिन्तन-प्रधान, परिचय मूलक, प्रेरणादायी साहित्य प्रचुर मात्रा में विभिन्न संस्थाओं से प्रकाशित हुआ है। अणुव्रत नाम से एक पाक्षिक पत्र भी बहुत समय से प्रकाशित

अणुव्रत-आन्दोलन का २० वर्षों का इतिहास बहुत ही प्रेरक और घटनात्मक है। पर्याप्त विस्तार से लिखा जाकर तो वह अनेक खण्डों की सामग्री बनता है। कुछ ही पृष्ठों में उसे समाहित कर लेना तो उसका दिग्दर्शन मात्र है। अतीत की तरह उसके भविष्य की दिशाएं भी बहुत विस्तृत हैं। इन्हीं दिशाओं का एक अंग अणुव्रत-विहार योजना है, जो अभी-अभी क्रियान्वित होने की ओर है। अणुव्रत विहार योजना आन्दोलन के रचनात्मक पक्ष का विकास चाहती है। अणुव्रत-विहार योजना जीवन के नैतिक मूल्यों की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संस्थापना चाहती है।

प्रज्ञा-परीक्षण

१. अणुव्रत आन्दोलन का आरम्भ किस घटना-प्रसंग से होता है?

२. व्रत–निर्धारण में व्यक्ति और आदर्श की अपेक्षा से कौनसा दृष्टिकोण अपनाया गया?

३. अणुव्रत आन्दोलन के आरम्भ, में सर्वसाधारण के बीच क्या प्रतिक्रिया रही?

४. क्या आप अणुव्रत आन्दोलन के आदि दिन का उल्लेख संवत्, तिथि या सन्, तारीख में कर सकते हैं?

५. अणुव्रत आन्दोलन के प्रथम अधिवेशन के सम्बन्ध में आप क्या क्या बतला सकते हैं?

: २ :

प्रवर्तक और प्रवृत्ति

अणुव्रत-आन्दोलन एक प्रवृत्ति है। आचार्य श्री तुलसी उसके प्रवर्तक हैं। प्रवृत्ति को समझने के लिए प्रवर्तक को समझ लेना आवश्यक होगा। आचार्य श्री तुलसी एक महान् धर्म संघ के अधिनेता हैं। धर्म-संघ की संज्ञा है—जैन श्वेताम्वर तेरापंथ। जैन परम्परा की यह नवीनतम शाखा है। आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व आचार्य भिक्षु द्वारा इसका प्रवर्तन हुआ। प्रवर्तन के मुख्य आधार थे—अनुशासन और आचार। आचार्य श्री तुलसी इस परम्परा के नवम अधिशास्ता हैं। आपके निर्देशन में लगभग साढ़े छह सौ (६५०) साधु-साध्वियां हैं।

आचार्य श्री तुलसी बहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं। जन-कल्याण की भावना से जहां आप सहस्त्रों मीलों की पद यात्राएं करते है, वहां साहित्य-साधना भी आपका प्रमुख क्षेत्र है। संस्कृत, हिन्दी, राजस्थानी आदि भाषाओं में आपने गद्यात्मक और पद्यात्मक अनेक ग्रंथ लिखे हैं।

अध्यापन भी आपका प्रमुख क्षेत्र रहा है। आपके पास अध्ययन करने वाले अनेक साधु-साध्वियां साहित्य; दर्शन, न्याय आदि विषयों में पारंगत हुए हैं।

आपका चिन्तन धर्म, संस्कृति और अध्यात्म को रूढ़ियों, विकृतियों और कुसंस्कारों से निकाल कर स्वस्थ स्थिति में लाने का है। सन् १९६२ में राष्ट्रीय स्तर पर आपका अभिनन्दन हुआ।

तात्कालीन उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् ने आपको अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया। इस अभिनन्दन-कार्य में विभिन्न धर्मों, विभिन्न राजनैतिक दलों और अन्य वर्गों के शीर्षस्थ लोग सम्मिलित हुए।

आचार्य तुलसी का जन्म लाडनूं (राजस्थान) के एक सम्पन्न परिवार में सम्वत् १९७१ कार्तिक शुक्ला द्वितीया तदनुसार २० अक्टूबर १९१४ को हुआ। ११ वर्ष की आयु में आप दीक्षित हुए और २२ वर्ष की आयु में आप आचार्य-पद पर आरूढ़ हो गये। आपने अपनी ३३-३४ वर्ष की आयु में अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन किया।

प्रवृत्ति

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह-ये सार्वभौम तथ्य अणुव्रत-आन्दोलन के मूलभूत आधार हैं। प्राचीन धर्म-शास्त्रों में इन्हें महाव्रत कहा गया है। आंशिक रूप से ग्रहण होकर ये अणुव्रत कहलाते हैं। बौद्ध परम्परा में लगभग इन्हीं व्रतों को पंच शील कहा गया है। भारतीय दर्शन और भारतीय संस्कृति के ये सर्व सम्मत तत्व हैं। पाश्चात्य धर्म-प्रवर्तकों ने भी इन्हें आधारभूत माना है। मानव-संस्कृति के ये मूल स्तम्भ हैं। अणुव्रत-आन्दोलन के अन्तर्गत इन्हीं आधारों पर आचार संहिता निर्मित हुई है। किसी धर्म विशेष या सम्प्रदाय विशेष की प्रक्रियाओं को इसके साथ नहीं जोड़ा गया है। इससे अणुव्रत-आन्दोलन सर्व-धर्म समन्वय का एक मूर्त उदाहरण बन जाता है। सभी सम्प्रदायों के लोग इसे अपना धर्म मान कर चल सकते हैं।

धर्म के दो रूप हैं; आचार और अनुष्ठान। लगभग सभी धर्म-परम्पराओं में धीरे-धीरे आचार का पक्ष गौण हुआ और अनुष्ठान-पक्ष प्रबल हुआ। मनुष्य घण्टा भर के लिये अपना 'नितनेम'

कर ले और शेष घण्टों में वह कुछ भी करता रहे, तो भी वह अपने को धार्मिक मान कर ही चलता है। आचार-पक्ष की इस गौणता के कारण धर्म का ह्रास हुआ। लोगों के मन में धार्मिकों के प्रति अश्रद्धा जगी। दुकानों और आफिसों में बैठ कर मनुष्य धर्म को भूल जाता है। असद् और अनैतिक कर्म करता है। धर्म-स्थानों में जाकर घण्टा भर के लिए फिर धार्मिक बन जाता है। यह कैसा धर्म ? अणुव्रत-आन्दोलन साम्प्रदायिक अनुष्ठानों से निरपेक्ष रहता हुआ, मनुष्य के आचार-पक्ष को ही प्रबल करता है। सचमुच ही वह एक युग-धर्म है। वह सबके लिए है और सब का है।

अणुव्रत-आन्दोलन अहिंसा, सत्य आदि के माध्यम से समाज गत अनैतिकताओं का निराकरण करता है; नैतिकता के पक्ष में जन-मानस को आन्दोलित करता है; इसलिये वह एक नैतिक आन्दोलन है। नैतिकता किसी भी समाज, देश और संस्कृति की रीढ़ होती है। नैतिकता का दूसरा नाम है—चरित्र। कोई भी देश अपने भौतिक वैभव से उच्च नहीं माना जाता। उच्च माना जाता है, वह अपने चारित्रिक वैभव से। अणुव्रत-आन्दोलन देश को चारित्रिक सम्पत्ति से परिपूर्ण करना चाहता है।

अणुव्रत-आन्दोलन एक प्रवृत्ति है तो उसकी विधाएं भी हैं। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं :

लक्ष्य

(क) जाति, वर्ण, सम्प्रदाय, देश और भाषा का भेदभाव न रखते हुये मनुष्य मात्र को आत्म-संयम की ओर प्रेरित करना।

(ख) मैत्री, एकता और शान्ति की स्थापना।

(ग) शोषण-विहीन और स्वतन्त्र समाज की रचना।

साधना

(क) व्यक्ति-व्यक्ति को अणुव्रती बनाना।

(ख) वैचारिक व व्यावहारिक क्रान्ति।

योग्यता

जीवन-शुद्धि में विश्वास रखने वाला हर व्यक्ति अणुव्रती हो सकेगा।

श्रेणी

(क) अणुव्रतों एवं साधना के नियमों को स्वीकार करने वाला "अणुव्रती"।

(ख) वर्गीय नियमों को स्वीकार करने वाला "वर्गीय अणुव्रती।" जैसे—विद्यार्थी-अणुव्रतों को ग्रहण करने वाला "विद्यार्थी—अणुव्रती" कहलाएगा।

प्रज्ञा—परीक्षण

१. अणुव्रत—आन्दोलन के प्रवर्तक कौन हैं और वे कौनसी जैन परम्परा के आचार्य हैं ?

२. आचार्य तुलसी के जीवन परिचय के सम्बन्ध में आप क्या बता सकते हैं ?

३. अणुव्रत—आन्दोलन के मूल आधार क्या हैं ? उन्हें भारतीय संस्कृति में किन—किन नामों से पुकारा जाता है ?

४. धर्म का आचार—पक्ष गौण हुआ और अनुष्ठान—पक्ष प्रबल हुआ, इस बात को आप सोदाहरण स्पष्ट करें।

५. अणुव्रत—आन्दोलन की विधाओं का हार्द अपने शब्दों में व्यक्त करें।

: ३ :

व्रत और श्रेणियां

व्रत एक आत्मिक अनुशासन होता है। वह दिलाया हुआ नहीं, अपितु लिया हुआ होता है। वह ऊपर से नहीं, किन्तु अन्दर से आता है। अन्य का अनुशासन परतन्त्रता का सूचक होता है। उसे व्यक्ति अवसर पाकर तोड़ना ही चाहता है। व्रत अपने पर अपना ही अनुशासन है; अतः इसके लिए पालन की अधिकाधिक सम्भावना रहती है। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जहां मनुष्य ने अपने प्राण दे दिये, पर अपना प्रण नहीं तोड़ा।

व्रत से आत्म-शक्ति का संवर्धन होता है। बुराइयों से लड़ने की क्षमता आती है। दोषों के निराकरण का यह एक अचूक उपाय है। व्रत नितान्त आध्यात्मिक होता है। धर्म-शास्त्रों में स्थान-स्थान पर व्रत का महत्व बताया गया है। आध्यात्मिक व्रत को तोड़ देना महापाप माना गया है।

अणुव्रत-आन्दोलन की पृष्ठ भूमि व्रत ही है। व्रत-ग्रहण के द्वारा व्यक्ति अपने जीवन में अहिंसा, सत्य आदि का विकास करता रहे, यही उसका ध्येय है। क्रमिक विकास के लिये निर्धारित व्रत दो श्रेणियों में बांटे गये हैं : अणुव्रती और वर्गीय अणुव्रती।
अणुव्रत इस प्रणकार हैं।

१. मैं चलने फिरने वाले निरपराध प्राणी का संकल्प पूर्वक वध नहीं करूंगा।

२. मैं किसी पर आक्रमण नहीं करूंगा और आक्रामक नीति का समर्थन भी नहीं करूंगा।

३. मैं हिंसात्मक उपद्रवों एवं तोड़-फोड़ मूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूंगा।

४. मैं मानवीय एकता में विश्वास रखूंगा—

क—मैं जाति, वर्ण आदि के आधार पर किसी को अस्पृश्य या नीच नहीं मानूंगा।

ख—मैं सम्पत्ति, सत्ता आदि के आधार पर किसी को हीन-उच्च नहीं मानूंगा।

५. मैं सब धर्म—सम्प्रदायों के प्रति सहिष्णुता का भाव रखूंगा।

६. मैं व्यवसाय व व्यवहार में सत्य की साधना करूंगा।

७. मैं चोर—वृत्ति से किसी की वस्तु नहीं लूंगा।

८. मैं स्वदार (या स्व-पति) सन्तोषी रहता हुआ ब्रह्मचर्य की साधना करूंगा।

९. मैं रुपये व अन्य प्रलोभन से मत (वोट) न लूंगा और न दूंगा।

१०. मैं सामाजिक कुरूढ़ियों को प्रश्रय नहीं दूंगा।

११. मै मादक व नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करूंगा।

अणुव्रत के निर्देशक तत्व इस प्रकार हैं:

अहिंसा

१. किसी के प्रति दुर्भाव या दुश्चिन्तन नहीं करना।

२. किसी के प्रति अपशब्दों का प्रयोग नहीं करना।

३. किसी के साथ निर्दय व्यवहार नहीं करना।

४. प्राण-वध नहीं करना।

५. शोषण नहीं करना।

६. मानवीय एकता में विश्वास रखना—आर्थिक, भौगोलिक, जातीय, साम्प्रदायिक, भाषायी एवं रंग-भेद के कारण किसी मनुष्य को हीन या उच्च नहीं मानना।

७, सह-अस्तित्व में विश्वास, रखना—विरोधी विचार रखने वाले व्यक्ति व समाज को बल-प्रयोग से मिटाने का प्रयत्न नहीं करना।

८. स्वतन्त्रता में विश्वास रखना—किसी के वैयक्तिक एवं सार्वभौम अधिकारों का अपहरण नहीं करना।

९. बुराइयों का अहिंसात्मक प्रतिरोध करना।

सत्य

१. यथार्थ चिन्तन करना।

२. यथार्थ भाषण करना।

३. व्यवसाय, व्यवहार व दैनिक-चर्या में सत्य का प्रयोग करना।

४. अभय और निष्पक्ष रहना।

५. कथनी और करनी में सामंजस्य स्थापित करना।

अचौर्य

१. दूसरों की वस्तु को चोर वृत्ति से नहीं लेना।

२. व्यवसाय व व्यवहार में प्रामाणिकता रखना।

३. सार्वजनिक सम्पत्ति का अनावश्यक उपयोग व दुरुपयोग नहीं करना।

ब्रह्मचर्य

१. भोग-विरति की साधना करना।

२. पवित्रता का अभ्यास करना।

३. खाद्य-संयम करना।

४. स्पर्श-संयम करना।

५. चक्षु-संयम करना।

अपरिग्रह

१. धन को आवश्यकता-पूर्ति का साधन मानना–जीवन का लक्ष्य नहीं।

२. अनावश्यक सम्पत्ति का संग्रह नहीं करना।

३. दैनिक उपभोग्य वस्तुओं का अपव्यय नहीं करना।

४. अमूर्च्छा (अनासक्ति) का अभ्यास करना।

प्रज्ञा–परीक्षण

१. ग्रहण किये हुए व्रत का मनुष्य यथार्थता से निर्वाह करेगा, यह किस आधार पर सोचा जा सकता है?

२. ग्रहण किये हुए व्रत का तोड़ देना भारतीय संस्कृति में क्या माना जाता है?

३. अणुव्रतों की कितनी श्रेणियां हैं?

४. अणुव्रतों के कुल कितने नियम हैं? तीन नियमों का उल्लेख करें।

: ४ :

वर्गीय चेतना

वर्तमान युग में बहुत सारी अनैतिकताएं वैयक्तिक न रह कर सामाजिक बन गई हैं। बाजार में अधिकांश व्यापारी मिलावट करते हैं, तब कुछ एक व्यापारियों के बिना मिलावट के टिक पाना कठिन होता है। अधिकांश राजकर्मचारी जब रिश्वत लेते हैं, तब कुछ एक का पवित्र रहना कठिन होता है। व्यापारियों में सामूहिक जागरण हो, सभी लोग मिलावट न करने का व्रत लें तो सभी के लिये वह व्रत सुगम हो जाता है। सभी कर्मचारी रिश्वत न लेने का व्रत ले लें तो किसी के लिये भी वह व्रत कठिन नहीं रहता। सामूहिक जागरण की अपेक्षा को ध्यान में रखते हुए अणुव्रतों को वर्गीय रूप दिया गया। पृथक्-पृथक् वर्गों को लक्ष्य में रख कर पृथक्-पृथक् आचार-संहिताएं बनाई गईं। अपने वर्ग से सम्बन्धित आचार-संहिता को अपनाने वाला वर्गीय अणुव्रती माना गया है। ये वर्गीय संहिताएं क्रमशः इस प्रकार हैं।

विद्यार्थियों के लिए

१. मैं परीक्षा में अवैधानिक उपायों से उत्तीर्ण होने का प्रयत्न नहीं करूंगा।

२. मैं हिंसात्मक उपद्रवों एवं तोड़-फोड़ मलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूंगा।

३. मैं अश्लील शब्दों का प्रयोग नहीं करूंगा व अश्लील साहित्य नहीं पढ़ूंगा।

४, मैं मादक व नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करूंगा।
५. मैं रुपये व अन्य प्रलोभन से मत (वोट) न लूंगा और न दूंगा।
६. मैं व्यवहार में प्रामाणिकता और सत्य की साधना करूंगा।
७. मैं माता-पिता व गुरुजनों के प्रति विनम्र रहूंगा।

शिक्षकों के लिए

१. मैं विद्यार्थी के बौद्धिक विकास के साथ उसके चरित्र-विकास का ध्यान रखूंगा।
२. मैं अवैध उपायों से विद्यार्थी के उत्तीर्ण होने में सहायक नहीं बनूंगा।
३. मैं दलगत राजनीति में सक्रिय भाग नहीं लूंगा और न इसके लिये विद्यार्थियों को प्रोत्साहन दूंगा।
४. मादक व नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करूंगा।
५. मैं शिक्षा-प्रसार के लिये प्रति सप्ताह एक घंटा निःशुल्क सेवा दूंगा।

व्यापारियों के लिए

१. मैं व्यापार में प्रामाणिक रहूंगा—
   (क) मैं किसी वस्तु में मिलावट कर या नकली को असली बता कर नहीं बेचूंगा।
   (ख) मैं तोल-माप में कमी-बेशी नहीं करूंगा।
   (ग) मैं चोर-बाजार नहीं करूंगा।
   (घ) मैं राज्य-निषिद्ध वस्तु का व्यापार व आयात-निर्यात नहीं करूंगा।
   (ङ) मैं सौंपी या धरी (बन्धक) वस्तु के लिये इन्कार नहीं करूंगा।

राज्य-कर्मचारियों के लिए

१. मैं रिश्वत नहीं लूंगा।
२. मैं अपने प्राप्त अधिकारों का अनुचित प्रयोग नहीं करूंगा।
३. मैं अपने कर्तव्य-पालन में जानबूझ कर विलम्ब या अन्याय नहीं करूंगा।
४. मैं मादक व नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करूंगा।

श्रमिकों के लिए

१. मैं अपने कार्यों में प्रामाणिकता रखूंगा।
२. मैं हिंसात्मक उपद्रवों एवं तोड़-फोड़ मूलक प्रवृत्तियों का आश्रय नहीं लूंगा।
३. मैं मद्य-पान व धूम्र-पान नहीं करूंगा तथा नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करूंगा।
४. मैं जुआ नहीं खेलूंगा।
५. मैं बाल-विवाह, वृद्ध विवाह, मृत्यु-भोज आदि कुरीतियों को प्रश्रय नहीं दूंगा।

प्रज्ञा—परीक्षण

१. सामूहिक जागरण से व्रत–साधना सुगम कैसे हो जाती है; स्पष्ट करें।
२. विद्यार्थी-आचार-संहिता के सात व्रतों में से किन्हीं तीन व्रतों का उल्लेख करें।
३. व्यापारी आचार-संहिता के पांच नियमों में से किन्हीं दो नियमों का उल्लेख करें।
४. राज-कर्मचारियों की आचार-संहिता के कितने नियम हैं और आपकी दृष्टि से प्रमुखतम कौनसा है ?
५. श्रमिकों से सम्बन्धित आचार-संहिता से कौन-कौनसी सामाजिक रूढ़ियों का परिहार होता है तथा कौन-कौनसी आदतों के परिष्कार का संकेत है।

: ५ :

लोकतन्त्र और नैतिकता

लोकतन्त्र अपने आप में लोक-अधिकारों का प्रतीक होकर देश में आया है। लोकतन्त्र को मूर्त रूप देने के लिये देशवासियों को अनगिन जेलें काटनी पड़ी हैं और अनगिन यातनायें सहनी पड़ी हैं। एक लम्बी साधना के पश्चात् मिली यह स्वतन्त्रता वरदान रूप ही मानी जाती है। पर हर अच्छाई के साथ बुराई भी लगी रहती है। देश में अनेक प्रकार की अनैतिकताएं पहले से प्रचलित थीं और हैं। लोकतन्त्र के साथ-साथ बुराइयों का एक जत्था और पैदा हो गया। व्यापारी जो बुराइयां करते हैं; राज-कर्मचारी जो बुराइयां करते हैं, उनसे भी कहीं अधिक बुराइयां राजनैतिक कार्यकर्तागण भी करने लगे हैं। लोकतन्त्र के आगमन से पूर्व जिन बुराइयों को लोग जानते ही नहीं थे, आज वे व्यापक रूप से फैल रही है, सारा लोकतन्त्र दूषित हो रहा है। जनता रुपये-पैसे व अन्य प्रलोभन पाकर मत देने की आदी हो रही है। उम्मीदवार रुपये-पैसे आदि अवैध प्रलोभन देकर मत ग्रहण करने के आदी हो रहे हैं। यह एक मूलभूत बुराई है। जो उम्मीदवार सहस्रों और लाखों की धन-राशि बांट कर विजयी होता है, वह किसी अधिकार पर पहुँच कर अनैतिक प्रयत्नों से धनार्जन नहीं करेगा; यह सोचा भी कैसे जा सकता है। मंत्री स्तर के लोग जब अवैध संग्रह करेंगे, तब सचिवालय के अन्य लोग वैसा नहीं करेंगे, यह भी कैसे सोचा जा सकता है। इस प्रकार लोकतंत्र का यह मूलगत दोष लोकतंत्र के वृक्ष की डालियों, शाखाओं और पत्तों में फैलता ही जाता है।

लोकतन्त्र का सहज नियम है, व्यक्ति उसी दल या उम्मीदवार को मत दे, जिसे वह अपने चिन्तन और अपने सिद्धान्त के अनुकूल समझता है। इस स्थिति को विघटित करने में और मतदाताओं को अपनी ओर प्रभावित करने में यत्र-तत्र लोग हिंसात्मक प्रभाव भी काम में लेने लगे हैं। प्राण-वध तक की धमकियां दे दी जाती हैं। दूसरे दल या उम्मीदवार के प्रति भयंकर रूप से मिथ्या और अभद्र प्रचार किया जाता है। मतदाताओं को भरपूर शराब पिलाई जाती है। मत-गणना में पर्चियों के हेर-फेर की भी साजिस की जाती है। कुछ लोग चुनाव लड़ने के लिए नहीं, केवल व्यवसायिक बुद्धि से रुपये लेकर या रुपये प्राप्ति के लिये ही खड़े होते हैं। कहीं-कहीं सत्तारूढ़ उम्मीदवार राजकीय साधनों का अवैध उपयोग करने लगते हैं। इन सबसे भी बढ़ कर बड़ी बुराई आजकल यह चली है कि विधायक लोग दल-परिवर्तन का व्यवसाय करने लगे हैं। जिस विचार सरणि पर या जिस राजनैतिक दल के नाम पर वे मत पाते हैं और विजयी होते हैं; विधान-सभाओं में जाकर बिना किसी विचार-भेद के तात्कालिक लाभ-हेतु अपनी व्यक्तिगत सौदाबाजी में दल-परिवर्तन कर लेते हैं। स्वार्थों के आधार पर किया जाने वाला यह दल-परिवर्तन एक ज्वलन्त राजनैतिक अनैतिकता है। अस्तु, लोकतन्त्र और चुनाव आदि के सम्बन्ध में अन्य भी अनेक अनैतिकताए समाज में प्रचलित हो रही हैं। राजनैतिकों के व्यक्तिगत स्वार्थ सारे लोकतंत्र के आदर्श को नीचा कर रहे हैं। राजनायिक लोग समाज से अपनी प्रतिष्ठा भी घटाते जा रहे हैं। कल तक समाज राजनायिकों को लोक-नेता के रूप में देखती थी, उन्हें आदर देती थी। अब वह यह समझने लगी है—'राजनीति सेवा नहीं, एक पेशा है।' अधिकांश पेशेवर लोग ही इसमें जाते हैं और अपना व्यवसाय चलाते हैं। यह सब देश के लिये अच्छा नहीं है। इससे लोकतन्त्र की जड़े हिलती हैं। आवश्यकता है; राजनयिकों में नैतिक जागरण आये। वे संकीर्ण

स्वार्थों से उपर उठें। वे अपने जीवन-व्यवहार से नैतिकता के आदर्श प्रस्तुत करते रहें। नैतिकता को खोकर कुछ भी पा लेने को वे गर्हास्पद समझें। अणुव्रत आन्दोलन इस विषय में सक्रिय है। विद्यार्थियों और व्यापारियों की तरह वह राजनयिकों में भी नैतिक उपक्रम चलाता रहा है। दूसरे आम चुनावों से पूर्व चुनावों से सम्बन्धित एक आचार-संहिता भी बनी। उस आचार-संहिता के निर्माण में तात्कालिक चुनाव आयुक्त तथा प्रमुख राजनैतिक दलों के लोग भी सम्मिलित थे। चुनाव के दिनों में उस आचार-संहिता का व्यापक रूप से प्रचार-प्रसार हुआ। मूल रूप में वह आचार-संहिता इस प्रकार है:

मतदाता के लिए

१. मैं रूपये व अन्य प्रलोभन से मतदान नहीं करूंगा।
२. मैं जाति, धर्म आदि के आधार पर मतदान नहीं करूंगा।
३. मैं अवैध मतदान नहीं करूंगा।
४. मैं चरित्र व गुणों के आधार पर अपने मत का निर्णय करूंगा।
५. मैं किसी उम्मीदवार या दल के प्रति अश्लील प्रचार व निराधार आक्षेप नहीं करूंगा।
६. मैं किसी चुनाव-सभा या अन्य कार्यक्रमों में अशान्ति व उपद्रव नहीं फैलाऊंगा।

उम्मीदवार के लिए

१. मैं रुपये व अन्य प्रलोभन तथा भय दिखाकर मत ग्रहण नहीं करूंगा
२. मैं जाति, धर्म आदि के आधार पर मत ग्रहण नहीं करूंगा।

३. मैं अवैध मत ग्रहण करने का प्रयास नहीं करूंगा।

४. मैं सेवाभाव से रहित, केवल व्यवसाय-बुद्धि से उम्मीदवार नहीं बनूंगा।

५. मैं अपने प्रतिपक्षी उम्मीदवार या दल के प्रति अश्लील प्रचार व निराधार आक्षेप नहीं करूंगा।

६. मैं अपने प्रतिपक्षी उम्मीदवार या दल की चुनाव–सभा या अन्य कार्यक्रमों में अशान्ति व उपद्रव नहीं फैलाऊंगा।

७. मैं निर्वाचित होने पर बिना पुनः चनाव के दल-परिवर्तन नहीं करूंगा।

८. मैं निर्वाचित होने पर यदि मेरे चुनाव-क्षेत्र के मतदाताओं का मेरे प्रति अविश्वास या असंतोष विकसित हुआ तो इस सम्बन्ध में लिये गये मतदान का $\frac{3}{4}$ मत मेरे विरुद्ध हो तो अविलम्ब पद-त्याग करूंगा।

विधायकों के लिए

१. में विधान या कानून के निर्माण में निष्पक्ष रहूँगा।

२. मैं किसी एक दल के टिकिट से निर्वाचित होकर विना पुनः चुनाव के दल-परिवर्तन नहीं करूंगा।

३. मैं विरोध के नाते विरोध और पक्ष के नाते पक्ष नहीं करूंगा।

४. मैं सदन की शिष्टता का उल्लंघन नहीं करूंगा।

५. मै राष्ट्र की भावात्मक एकता के विकास में प्रयत्न शील रहूँगा।

प्रज्ञा–परीक्षण

१. **ऐसी कौनसी राजनैतिक अनैतिकता है, जो लोकतन्त्र के मूल को ही दूषित करती है ?**

२. दल-परिवर्तन को आप राजनैतिक अनैतिकता के रूप में क्यों सोचते हैं ?

३. राजनयिक लोग समाज से अपना प्रभाव किन कुप्रवृत्तियों के कारण खोते जा रहे हैं।

४. चुनाव-सम्बन्धी आचार-संहिता में किन-किन लोगों से सम्बन्धित नियम गढ़े गये हैं ?

५. चुनाव-सम्बन्धी आचारसंहिता के किन्हीं तीन नियमों का उल्लेख करें।

: ६ :

प्रार्थना और उसकी उपयोगिता

गांधीजी ने एक महिला से पूछा—"प्रतिदिन प्रार्थना करती हो ?"

"महात्माजी ! पहले मैं प्रतिदिन प्रार्थना करती थी। अब नहीं करती हूँ।"

"ऐसा क्यों ?"

"ऐसा इसलिए कि मन प्रार्थना में लगता नहीं। वह इधर-उधर दौड़ता ही रहता है।"

"ऐसी स्थिति है तो मन का दौड़ाना छोड़ो। प्रार्थना क्यों छोड़ती हो ? जो छोड़ने की वस्तु है, उसे तो तुम छोडने का प्रयत्न नहीं कर रही हो। जो नहीं छोड़ने की वस्तु है, उसे छोड़ने चली हो। कैसा है, यह भोलापन।"

उक्त 'घटना-प्रसंग में प्रार्थना करने वालों का और प्रार्थना का एक सुन्दर चित्र उपस्थित हो जाता है। प्रार्थना मन को एकाग्र करने के लिए की जाती है। पर लोग उससे इसलिये परे भागते हैं कि मन उसमें केन्द्रित नहीं होता। प्रार्थना मन को एकाग्र करने का एक माध्यम है।' सतत अभ्यास से मन एकाग्र होने लगता है।

प्रायः सभी धर्मों में प्रार्थना का उच्च स्थान माना गया है। पृथक्-पृथक् धर्मों की पृथक्-पृथक् प्रार्थनाएं होती हैं। उन प्रार्थनाओं

में मुख्यतः दो बातें होती हैं। व्यक्ति अपने इष्ट के प्रति समर्पित होता है या अपने इष्ट से अपने सात्विक विकास की प्रार्थना करता है। प्रार्थना-परक स्तुति के कारण ही इसका नाम प्रार्थना पड़ा है।

प्रार्थना को आजकल साधारण लोगों की वस्तु माना जाने लगा है। स्कूलों में सामूहिक प्रार्थना होने की प्रथा है। कालेजों में सामूहिक प्रार्थना विशेषतः नहीं होती। कालेज के विद्यार्थी इसे भी अपनी शान समझते हैं। जिस किसी भी कालेज में सामूहिक प्रार्थना होती है, उसे ये स्कूल कह कर ही आनन्द लेते हैं। यह अनभिज्ञता और भौतिक दृष्टिकोण का परिणाम है। बुद्धिवादी दृष्टिकोण मनुष्य को कहीं भी केन्द्रित नहीं होने देता। जहां भी मनुष्य रुकता है, तर्क उसे आगे ढकेल देती है। प्रार्थना धार्मिक दृष्टि से ही नहीं; बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी उपयोगी ठहरती है। इससे मनुष्य को आत्मिक बल मिलता है। मनुष्य का आत्म-विश्वास जागृत-होता है।

अणुव्रती एक ही धर्म के अनुयायी नहीं होते; अतः जिन, बुद्ध या शिव किसी एक ही आराध्य की प्रार्थना सर्वमान्य नहीं हो सकती। दूसरी बात इष्ट के प्रति समर्पण या याचन कितने ही अच्छे होते हों; पर उनसे व्यक्ति के हृदय में अकर्मण्यता का भाव तो उभरता ही है। अणुव्रती के लिए पुरुषार्थ को भूलना भी तो उचित नहीं। इन सारे तथ्यों को ध्यान में रखकर अणुव्रतियों के लिए प्रार्थना की रचना की गई है। यह प्रार्थना संकल्प-प्रधान है। इसमें अणुव्रती नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था व्यक्त करते हुए अनैतिक कार्यों के परिहार की निष्ठा व्यक्त करता है। वह प्रार्थना अग्रांकित है और अणुव्रती प्रतिदिन प्रातःकाल सामूहिक संगायन करते हैं।

प्रार्थना

संयममय जीवन हो

नैतिकता की सुर सरिता में जन-जन-मन पावन हो

संयममय जीवन हो

अपने से अपना अनुशासन अणुव्रत की परिभाषा
वर्ण, जाति या सम्प्रदाय से, मुक्त धर्म की भाषा
छोटे-छोटे संकल्पों से मानस-परिवर्तन हो

संयममय जीवन हो १

मैत्री भाव हमारा सबसे प्रतिदिन बढ़ता जाए
समता, सह अस्तित्व, समन्वय-नीति सफलता पाए
शुद्ध साध्य के लिये नियोजित मात्र शुद्ध साधन हो

संयममय जीवन हो २

विद्यार्थी या शिक्षक हो मजदूर और व्यापारी
नर हो नारी, बने नीतिमय जीवन-चर्या सारी
कथनी-करनी की समानता में गतिशील चरण हो

संयममय जीवन हो ३

प्रभु बन करके ही हम प्रभु की पूजा कर सकते हैं
प्रामाणिक बनकर ही संकट-सागर तर सकते हैं
आज अहिंसा शौर्य-वीर्य-संयुत जीवन-दर्शन हो

संयममय जीवन हो ४

सुधरे व्यक्ति, समाज व्यक्ति से, राष्ट्र स्वयं सुधरेगा
'तुलसी' अणु का सिंहनाद सारे जग में प्रसरेगा
मानवीय आचार-संहिता में अर्पित तन-मन हो

संयममय जीवन हो ५

प्रज्ञा-परीक्षण

१. गांधीजी ने प्रार्थना के सम्बन्ध से महिला को क्या उद्बोधन दिया ?

२. प्रार्थनाओं में मुख्यतया दो बातें कौनसी होती हैं ?

३. प्रार्थना का बौद्धिक व मनोवैज्ञानिक महत्व व्यक्त करने का प्रयत्न करें।

४. अणुव्रतियों के लिए संकल्प-प्रधान प्रार्थना ही क्यों श्रेष्ठ मानी गई है ?

५. "सुधरे व्यक्ति समाज व्यक्ति से राष्ट्र स्वयं सुधरेगा" इस पंक्ति पर आप क्या विवेचन कर सकते हैं ?

: ७ :

कटु और मधुर अनुभूतियां

विवेचनात्मक से कथात्मक तथा कथात्मक से घटनात्मक साहित्य अधिक सरस और प्रेरक होता है। अणुव्रत में ऐसे संस्मरणात्मक साहित्य की भी कमी नहीं है। जो लोग अणुव्रती बने, उन्हें सामाजिक और व्यावसायिक जीवन में नाना स्थितियों का सामना करना पड़ा। सामाजिक जीवन में कुछ एक लोगों ने जहां उनके व्रत-ग्रहण का स्वागत किया, वहां बहुत सारे लोगों ने विरोध, आलोचना और असहकार भी किया। उन कटु और मधुर अनुभूतियों के बीच अणुव्रतियों की मनःस्थिति और उनका प्रवर्तन कैसा रहा, यह एक जिज्ञासा और कौतूहल का विषय है। व्यावसायिक क्षेत्र में सत्य और प्रामाणिकता का व्रत लेकर चलने में उन्हें किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा व उन्होंने किस प्रकार बाधाओं के साथ लोहा लिया, यह भी एक प्रेरक इतिहास है। अनेक अणुव्रतियों ने रिश्वत व चोरबाजारी से आने वाले लाभ को ठुकराया। अणुव्रत के इतिहास में ऐसे उदाहरणों की भी एक लम्बी शृंखला है। उक्त विषयों से सम्बन्धित कुछ एक संस्मरण यहां प्रस्तुत किये जाते हैं। ये संस्मरण अणुव्रतियों की अपनी भाषा में ही संगृहीत किये गये हैं।

१

अणुव्रती होने के पश्चात् मैंने अपने पारिवारिक जनों से अपने फर्म में ब्लैक न करने के लिए विनम्र अनुरोध किया और ब्लैक होने की स्थिति में सम्मिलित रह सकने में असमर्थता प्रकट की। बड़े भाई